अङ्कः सप्तदशः (Vol. XVII) 1993

चौ० चरणसिंहविश्वविद्यालय-मेरठ-
-संस्कृत-शोध-पत्रिका

(पूर्वनाम—मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत शोध-पत्रिका)

(Ch. Charan Singh University Meerut Sanskrit Research Journal)

चौ. चरण सिंह विश्वविद्यालय-मेरठ-
-संस्कृताध्यापक-परिषदः उपक्रमः

परामर्शदातृ मण्डलम्

सम्पादक मण्डलम्

प्रकाशकः
मन्त्री
चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय-मेरठ संस्कृत-अध्यापक-परिषदः

मुद्रक : माया प्रिन्टर्स, भाटवाड़ा, मेरठ—२५.०.०२

वस्तु सूची

—:o:—

अग्निहोत्र मीमांसा

डॉ० वेदपाल
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
जनता वैदिक कालेज, बड़ौत (मेरठ)

वैदिक वाङ्मय में यज्ञ संस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मण तथा सूत्रकारों ने हवि, सोम तथा पाक[1] इस संस्थात्रय एवं पञ्च महायज्ञ[2] के रूप में यज्ञों का विभाजन एवं विवेचन किया है। प्रत्येक संस्था में सात यज्ञ हैं। इस प्रकार कुल यज्ञ ७ × ३ = २१ + ५ = २६ छब्बीस हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ इष्टियां तथा इन यज्ञों के अवान्तर भेद भी उपलब्ध होते हैं। कहा जा सकता है कि यज्ञ संस्था अपने आप में पूर्ण विशाल एवं विस्तृत है।

श्रौत सूत्र एवं ब्राह्मण प्रतिपादित यज्ञ श्रौत तथा गृह्यसूत्र प्रतिपादित यज्ञ स्मार्त कहलाते हैं। सोम एवं हविर्यज्ञ श्रौत तथा पाकयज्ञ स्मार्त हैं। पञ्च महायज्ञों में से देवयज्ञ भी श्रौतयज्ञ है।

श्रौतसूत्र प्रतिपादित सभी यज्ञ नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य इन तीन श्रेणियों में रखे जा सकते हैं। ये सभी कर्म आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिण संज्ञक अग्नियों में सम्पन्न होते हैं। अतः श्रौत कर्म (यज्ञ) प्रारम्भ करने से पूर्व इन अग्नियों का आधान किया जाता है। इस कर्म को अग्न्याधान, अग्न्याधेय अथवा आधान भी कहते हैं। आधान के पश्चात् अग्निहोत्र किया जाता है। इसीलिये हविर्यज्ञों का उल्लेख करते हुये प्रथम अग्न्याधान तदनन्तर अग्निहोत्र वर्णित है।

अग्निहोत्र नित्यकर्म है। शतपथ ब्राह्मण में इसे जरामर्य सत्र[3] कहा गया है। इससे यजमान की मुक्ति शिथिलगात्र अथवा मृत्यु होने पर ही होती है। यह यावज्जीवन क्रियमाण नित्यकर्म है। इसीलिये—'यावज्जीवम् अग्निहोत्रम्'[4] कहा

१. सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः। गोपथ ब्रा० १·५·२५

२. पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञऽइति।—श० प० ११·५·६·१

३. दीर्घ सत्त्रँ ह वा एतऽउपयन्ति। ये अग्निहोत्रं जुह्वत्येतद्वै जरामर्यँ सत्त्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यन्ते मृत्युना वा।—श० प० १२·४·१·१, जै० ब्रा १·५१; तै० आर १०·६४

४. यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति—आ० श्रौ ३·१४·११

जाता है। इसे स्वर्गदायिनी नौका भी कहा गया है।[1] शतपथ वर्णित पञ्च महायज्ञ जिन्हें महासत्र भी कहा है में उल्लिखित देवयज्ञ अग्निहोत्र ही है। गोपथ में इन्हें 'महामखा' कहा है।

परिभाषा—अग्नये अग्नौ वा हूयते यस्मिन् कर्मणि तद् अग्निहोत्रम्—अग्नि के लिये अथवा अग्नि में हवन-दान जिस कर्म में किया जाता है—वह अग्निहोत्र है। महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत परिभाषा निम्नवत् है—"अग्नये परमेश्वराय जलवायु शुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं यस्मिन्कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम्"[2] अर्थात् अग्नि परमेश्वर के लिये तथा जलवायु की शुद्धि के लिये होत्र = हवन जिस कर्म में किया जाता है वह अग्निहोत्र है।

देवता—अग्निहोत्र कर्म के तीन देवता हैं—१. अग्नि, २. वायु-इन्द्र, ३. सूर्य। यतः इस कर्म का प्रारम्भ सायंकाल सूर्यास्त होने पर होता है। सायंकाल-रात्री का देवता अग्नि है। अतः उभयकालिक कर्म को उभयकाल साध्य एक ही कर्म होने के कारण 'छत्रिन्याय' से अग्निहोत्र कहा जाता है।

काल-क्रम—अग्निहोत्र को 'अग्निहोत्रं सायमुपक्रमं प्रातरपवर्गम् आचार्या ब्रुवते'—इस बौधायनीय[3] परिभाषानुसार—साय प्रारम्भ होकर प्रातः पूर्णता को प्राप्त कहा जाता है। सायंकाल से ही क्यों प्रारम्भ किया जाये? इस विषय में कारण निम्न हैं—

१. हविर्यज्ञों में प्रथम क्रियमाण कर्म आधान है। वह मध्याह्न तक सम्पन्न होता है। आधान में मात्र अग्नि स्थापन ही नहीं, अपितु आधान से पूर्व आधान हेतु वेदि निर्माण भी किया जाता है। जिसमें ऊपर की सामान्य मिट्टी हटाकर—(i) जल सिञ्चन, (ii) वराह विहत = सूअर से खोदी गयी मिट्टी, (iii) वल्मीक वपा = दीमक की बांबी की मिट्टी, (iv) ऊष = ऊसर भूमि की मिट्टी = रेह, (v) सिकता = बालू, (vi) शर्करा = रोडी[4], (vii) स्वर्ण, तदनन्तर समिधाचयन

१. नौर्ह वा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्—श० ब्रा० २.३.३.१५

२. पञ्चमहायज्ञविधिः—अग्निहोत्रप्रकरण तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पञ्चमहायज्ञ प्रकरण भी द्रष्टव्य है—वहां ईश्वराज्ञा पालनार्थं तथा दानम् शब्द अधिक हैं।

३. बौधा० श्रौ० २४.३० तथा—सायमारम्भणमग्निहोत्रं प्रागपवर्गम्—वाराह श्रौ० १.५.२.६

४. विस्तरेण द्रष्टव्य—मैत्रायणी सं० १.६.३ आधान प्रकरण; श० ब्रा० २.१.४.८ के अनुसार—जल, हिरण्य, ऊष, आखुकरीष, शर्करा; का० श्रौ० ४.८.१४-१५ के अनुसार—'स्थानमुल्लिख्याऽभ्युक्षाऽन्वाऽद्भ्यो हिरण्यं निधायोषाखूत्करान्निवपत्यन्तेषु शर्कराः। हिरण्यमुपर्येके ॥ वैखा० श्रौ० १.७ के अनुसार—सिकता, ऊष, आखुकरीष, वल्मीकवपा, सूद = (गीली मिट्टी), वराह विहत, शर्करा ये सात हैं।

पुन: अरणि मन्थन से अग्नि का आधान-स्थापन होने के कारण यह समय साध्य है। अत: आधान के पश्चात् प्राप्त अग्निहोत्र सायं ही प्रारम्भ किया जा सकता है।

२. मनुष्य दिन भर कर्म निरत रहता है, उससे पाप=सम्प्रति प्रदूषण आदि कर्म होना सम्भव है। अत: सायं अग्निहोत्र कर उससे मुक्त हो जाता है।[1] इसी प्रकार रात्रि के पाप से प्रात: अग्निहोत्र कर मुक्त होता है।

३. जिस प्रकार दिन से पूर्व रात्री होती है उसी प्रकार इस सृष्टि रूप अह से पूर्व प्रलयरूपा रात्री होती है। अत: सर्ग के व्याख्यान से पूर्व प्रलय का व्याख्यान आवश्यक है। जैसा कि—ऋग्वेद के नासदीय सूक्त १८·१२८ में, तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रे' कहकर प्रथम प्रलयावस्था का वर्णन किया है।

काल—ऋग्वेदीय आश्वलायन एवं शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन और श्रौत सूत्रानुसार सायं अग्निहोत्र का समय सूर्यास्त होने पर है।[2] कृष्ण यजुर्वेदीय वैखानस एवं सामवेदीय सत्याषाढ़ श्रौत सूत्रानुसार जब सूर्य अस्त हो रहा हो वह सायं अग्निहोत्र का समय है।[3] ऋग्वेदीय शांखायन श्रौत सूत्रानुसार[4] सूर्यास्त के पश्चात् नक्षत्र दिखायी देने पर साय अग्निहोत्र का काल है, किन्तु अथर्ववेदीय वाराह श्रौतसूत्रानुसार[5] नक्षत्र दिखायी देने के साथ-साथ सूर्यास्त से पूर्व का भी विकल्प है। इस प्रकार सामान्यत: सूर्यास्त होने पर सायं अग्निहोत्र का सर्वसम्मत काल है।

प्रात: कालीन अग्निहोत्र के विषय में ब्राह्मण एवं श्रौतकारों के—(i) उदिते होतव्यम्=सूर्योदय होने पर, (ii) अनुदिते होतव्यम्=सूर्योदय से पूर्व जब नक्षत्र दिखाई दे रहे हों, (iii) समयाध्युषिते होतव्यम्=नक्षत्र दिखाई देने बन्द हो जायें तथा सूर्योदय हुआ न हो। ये तीन मत उपलब्ध हैं। ऋग्वेदीय श्रौत सूत्रों में तीनों विकल्प स्वीकार किये गये हैं।[6] ऐतरेय ब्राह्मण[7] में उदित तथा कात्यायन

---

१. अह्ना यदेन: कृतमस्ति पापं सर्वस्मान्मोदधृतो मुञ्च तस्मादिति सायम्।—सत्याषाढ़ श्रौ० ३·७ अह्नायदेन इति सायं रात्र्या यदेन इति प्रात: वैखा० श्रौ० २·१

२. अस्तमिते होम: —आश्व० श्रौ० २·२; अस्तमिते जुहोति—का० श्रौ० ४·१४·६

३. सायमधिवृक्षसूर्येऽर्धास्तमिते वा—वैखा० श्रौ० २·१
अधिवृक्षसूर्ये सायमग्निहोत्रायोषसि प्रातरग्निहोत्राय—सत्याषाढ़ श्रौ० ३.७

४. प्रभान्त्यां रात्र्याम्—शां० श्रौ० २·६·३

५. प्रदोषमग्निहोत्रं जुहुयान्नक्षत्रं दृष्ट्वानस्तमिते वा--वाराह श्रौ० १·५·२·७

६. उपोदयं व्युषित उदिते वा—आश्व० श्रौ० २·४; शा० श्रौ० २·७·३-४

७. तस्माद् उदिते होतव्यम्—ऐ० ब्रा० ५·५-४·६

श्रौत[1] एवं शतपथ ब्राह्मण[2] अनुदित पक्ष स्वीकार किया गया है। वाराह को उदित एवं अनुदित दोनों पक्ष स्वीकार हैं।[3]

प्रातः कालीन अग्निहोत्र के लिये उदित अनुदित और समयाध्युषित इन तीन कालों का विधान होने के कारण यजमान को किसी एक काल में ही अग्निहोत्र का संकल्प करना होता है। संकल्प के पश्चात् काल का अतिक्रमण करने पर यजमान प्रायश्चित्त का भागी होता है। न्यायदर्शन के—'तदप्रामाण्यमनृतव्याघात-पुनरुक्तदोषेभ्यः' तथा 'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्' २·१·५६, ५८ सूत्रों के वात्स्यायन भाष्य में संकलिपत कालातिक्रमण होने पर दोष विधायक निम्न निन्दा-वचन उपलब्ध होते हैं—

(i) श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति—जो यजमान अनुदित अथवा समयाध्युषित काल का संकल्प करके सूर्योदय होने पर अग्निहोत्र करता है, काले रंग का कुत्ता उसकी आहुति खा जाता है।

(ii) शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति—जो यजमान उदित अथवा समयाध्युषित काल का संकल्प करके अनुदित काल में अग्निहोत्र करता है, सफेद रंग का कुत्ता उसकी आहुति खा जाता है।

(iii) श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति—जो यजमान उदित अथवा अनुदित काल का संकल्प करके समयाध्युषित काल में अग्नि-होत्र करता है, उसकी आहुति काले और सफेद रंग के कुत्ते खा जाते हैं।

वात्स्यायन के उक्त वचनों को मीमांसकों के 'नहि निन्दा' न्याय—"नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम्"[4] के परिप्रेक्ष्य में संकलिपत समय पर अग्निहोत्र करने की प्रशंसा में ही स्वीकार करना चाहिये।

शांखायन ब्राह्मण २·६ में ऐसे यज्ञ को श्यामशबल कहा गया है।

हव्य-द्रव्य—आश्वलायन श्रौत[5] एवं शतपथ ब्राह्मण[6] के अनुसार नित्य अग्निहोत्र का हव्य पय है। शांखायन श्रौत सूत्र में पय, यवागू, दधि और आज्य को हव्य रूप में स्वीकार किया है[7], वैखानस[8] में उक्त के साथ-साथ तण्डुल,

---

१. प्रातर्जुयहोत्नुदिते—का० श्रौ० ४·१५·१ (प्रथमास्तमिते पर्युदयं च स्वर्गकामस्य, शयाने श्री कामस्य प्रातः-११, १४)

२. श० प० २·२·३·४, ५, ६

३. व्युच्छन्त्यां प्रातर्व्युष्टायामुदितेऽनुदिते वा—वाराह श्रौ० १·५·२·८

४. मीमांसा १·४.२६ पर शाबर भाष्य

५. पयसा नित्यहोमः—आश्व० श्रौ० पूर्वषट्के २·३

६. किमिति। पय एवेति। श० प० ११·३·१२-४

७. पयोयवागूर्दध्याज्यमित्यग्निहोत्र हवींषि—शा० श्रौ० २·७·६

८. पयसा घृतेन दध्ना तण्डुलैर्यवाग्वौदनेन सोमेन वाग्नि ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायम्—वैखा० श्रौ० २·४

ओदन एवं सोम भी हव्य रूप में परिगणित है। किन्तु कात्यायन के—पयसा स्वर्गकामः पशुकामो वा, यवाग्वा ग्रामकामः, तण्डुलैर्बलकामः, दध्नेन्द्रियकामः, घृतेन तेजस्कामः ४·१५·२०–२५ सूत्रानुसार ये काम्य अग्निहोत्र के हव्य हैं। आश्वलायन[1] में भी—यवागू, ओदन, दधि और घृत को काम्य हव्य कहा है।

अग्निहोत्र के हव्य में यह विशेष स्मरणीय है कि सम्पूर्ण हव्य का होम नहीं किया जाता है, अपितु कुछ हव्य अग्निहोत्रहवणी में भक्षण के लिये बचाकर रखते हैं। ऋत्विक्—यतः 'यजुर्वेदेनाग्निहोत्रम्'[2] अग्निहोत्र को यजुर्वेद से सम्पाद्यमान कर्म कहा गया है। अतः इसका एकमात्र ऋत्विक् भी अध्वर्यु[3] है। अथवा यजमान स्वयं भी[4] बिना किसी ऋत्विक् का वरण किये इसे सम्पन्न कर सकता है।

अग्नि—अग्निहोत्रकर्म गार्हपत्य से उद्धृत कर आहवनीय कुण्ड में स्थापित आहवनीय अग्नि में सम्पन्न होता है, किन्तु—'अपराग्न्योः काम्यमग्निहोत्रं नित्यम् इत्याचार्याः'[5] इस वैतान वचन के अनुसार काम्य अग्निहोत्र का सम्पादन गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि में करना होता है। कात्यायन[6] का मत भी वैतान के तुल्य ही है।

विधि—अग्निहोत्र की विधि वा पद्धति के दो भाग हैं—

(i) सामान्य अथवा अनिवार्य अग्निहोत्रविधि।

(ii) विशिष्ट अथवा काम्य अग्निहोत्र विधि।

प्रस्तुत पत्र में अनिवार्य अग्निहोत्र विधि का ही संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। सामान्य विधि के अनुसार सम्पूर्ण यज्ञ संस्था मे अग्निहोत्र अत्यल्प काल व अल्पव्यय साध्य है। उन्नीसवीं सदी में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मृतप्रायः यज्ञसंस्था का पुनरुद्धार किया। सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका आदि ग्रन्थों में महर्षि ने अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों के प्रचार प्रसार की बात कही है। साथ ही संस्कार विधि के गृहस्थाश्रम संस्कार, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के पञ्चमहायज्ञप्रकरण तथा पञ्चमहायज्ञविधि में दैनिक अग्निहोत्र की विधि का भी उल्लेख किया है। यही नहीं संस्कार विधि का सामान्य प्रकरण श्रौतसूत्रों के

---

१. यवागूरोदनो दधि सर्पिग्रामकामान्नाद्य कामेन्द्रिय कामतेजस्कामानाम्—आश्व० श्रौ० पूर्वषट्के २ ३

२. सत्याषाढ—श्रौ० १ १

३. अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोरेक ऋत्विगध्वर्युः—वैखा० श्रौ० २ १

४. स्वयं वा जुहुयात्—का० श्रौ० ४·१५·३४; अहरहर्यजमानः स्वयमग्निहोत्रं जुहुयाच्छिष्यो वा—वैखा० श्रौ० २·६

५. वैतान श्रौ० २·३·१६

६. इतरयोश्च पुष्टिकामः स्थाल्याः स्रुवे 'ण्हे पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधात्विह प्रजापतिः। 'अग्नये गृहपतये रयिमते पुष्टिपतये स्वाहे' ति गार्हपत्ये ॥ अग्नयेऽन्नादायाऽन्नपतये स्वाहेति दक्षिणाग्नौ—का० श्रौ० ४·१४·२२, २४

परिभाषा प्रकरण से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं कहा जा सकता है। अतः अग्निहोत्र विधि की चर्चा करते हुये हम सामान्य अग्निहोत्र विधि के दो भाग कर सकते हैं—

१. श्रौत प्रतिपादित विधि २. महर्षि दयानन्दाभिमत विधि

श्रौत प्रतिपादित विधि—सायंकाल अग्निहोत्र का संकल्प करके यजमान गार्हपत्य से अग्नि लेकर आहवनीय में स्थापित करता है। गार्हपत्य से ही दक्षिणाग्नि का भी स्थापन किया जाता है। यजमान पत्नी अपने स्थान[1] पर आकर नैर्ऋतिकोण में आसन ग्रहण करती है। यजमान अग्नि पर्युक्षण करके गार्हपत्य से ही अङ्गार लेकर उन पर दुग्ध को गर्म कर उसमें से चार आहुतियों के लिये पय अग्निहोत्रहवणी में पृथक् कर लेता है।[2] चतुर्गृहीत हव्य को लेकर आहवनीय के समीप पहुंचकर—"अग्नि ज्योतिषं त्वावायुमतीं प्राणवतीꣳ स्वर्ग्याꣳ स्वार्ग्यायोपदधामि भास्वतीम्"[3] कण्व सं० ३.२.१ मन्त्र से समिदाधान करता है। तदनन्तर—अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा, अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा, सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा[4] (यजु० ३.९,१०) इन यजुर्वेदीय मन्त्रों से तीन तथा प्रजापतये स्वाहा[5] कहकर चतुर्थी मौन आहुति देता है।

प्रातः काल के विषय में कात्यायन[6] के अनुसार इतना ही विशेष है कि—"अग्नि शब्दे सूर्यः"—अग्नि शब्द के स्थान पर सूर्य, "रात्र्युषसान्हेति वा"—'सजू रात्र्येन्द्र' के स्थान पर 'सजूरुषसेन्द्र' तथा "ज्योतिः सूर्य" इति वा प्रातः"—'अग्निर्ज्योति' के स्थान पर सूर्य ज्योति। अर्थात्—सायंकाल के समय यजुर्वेद ३.९, १० के तीन मन्त्रखण्डों तथा प्राजापत्य आहुति इन चारों के स्थान पर यजुर्वेद ३.९ के ही—सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा, सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा,

१. पत्नी च पूर्ववत्—का० श्रौ० २.१३.१३; पत्नी च यथादेशम्—वही ४.१५.३ (प्रातरग्निहोत्र प्रसंगे) तथा का० श्रौ० २.७.१ (पत्नी संवहन प्रसंगे) पर—प्रत्यग्दक्षिणतो गार्हपत्यस्योपविशेत्—विद्याधरः।
२. चतुर स्रुवानुन्नयति—का० श्रौ० ४.१४.१०
३. मध्ये निगृह्योद्गृह्योपविश्य समिधमादधा "त्यग्नि ज्योतिषं त्वा...... भास्वती" मिति—का० श्रौ० ४.१४.१३;
आश्व० श्रौ० पूर्वषट् २.३–८ के अनुसार समिदाधान 'भूर्भुवः स्वरोम्' पूर्वक; "सूर्य ज्योतिषमिति प्रातः"—वैतान श्रौ० २.३.९
४. प्रदीप्तामभिजुहोति— 'अग्निर्ज्योति" दिति सजूरिति वा; "अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य"—का० श्रौ० ४.१४.१४–१५
५. तूष्णीमुत्तरां भूयसीम्—का० श्रौ० ४.१४.१७; प्रजापतिं मनसा ध्यायातूष्णीं होमेषु सर्वत्र—आश्व० श्रौ० पूर्वषट्के २.३
६. का० श्रौ० ४.१५.८–१०

ज्योतिः सूर्यं सूर्यो ज्योति स्वाहा तथा दशम मन्त्र के—सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुष-सेन्द्रवत्या । जुषाणः सूर्योवेतु स्वाहा—इन चार खण्डों में चार आहुतियां होगी ।

यह विधि कात्यायन श्रौत सूत्रानुसार है। इसमें केवल सायं प्रातः अग्निहोत्र की चार-चार आहुतियों का ही विधान है। यहा यह भी स्मरणीय है कि मात्र नित्य अग्निहोत्र की अनिवार्य वा सामान्य पद्धति है। काम्य अग्निहोत्र की विधि कात्यायन श्रौत सूत्र के चतुर्थाध्याय की १४–१५ कण्डिकाओं में वर्णित है।

ऋग्वेदीय आश्वलायन श्रौतसूत्रानुसार—गार्हपत्य अग्नि में मौन समिदाधान करके—'अग्नये गृहपतये स्वाहा'[१] कहकर गार्हपत्य में भी आहुति दी जाती है। इसी प्रकार दक्षिणाग्नि में भी मौन समिदाधानपूर्वक—'अग्नये सर्वेशपतये स्वाहा' अथवा "अग्नयेऽन्नादानाम्नपतये स्वाहा"[१] से आहुति विधान है।

सत्याषाढ़ श्रौतसूत्रानुसार—एक, दो या तीन समिधाएं हैं। 'एषा ते अग्ने समित्' कहकर प्रथम समिदाधान, शेष दो समिधाओं से मन्त्र विकल्प है। समिदाधान के पश्चात् सायं अग्निहोत्र की—"भूर्भुवः सुवः सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" एवं "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" दो ही प्रधान आहुतियां हैं। "भूर्भुवः सुवः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" और "सूर्योज्योति र्ज्योतिरग्निः स्वाहा"—ये दो प्रातः काल की आहुतियां हैं।[२] इस प्रकार इन चारों आहुतियों से सायं-प्रातः सम्पाद्यमान अग्निहोत्र एक कर्म है। काम्य अग्निहोत्र की आहुतियां व मन्त्र वहीं द्रष्टव्य हैं।

प्रायः सभी श्रौतकारों को सायं प्रातः की चार-चार अथवा सायं प्रातः की दो-दो=कुल चार आहुतियां ही अभिप्रेत हैं। काम्य आहुतियों की संख्या व मन्त्र-भेद शाखा भेद के कारण हैं। जिन श्रौतसूत्रों में चार से अधिक आहुतियां हैं, वे गौण हैं। प्रधानाहुतियां वहां भी चार ही हैं।

संसृष्ट होम—सत्याषाढ़ संसृष्ट होम को स्वीकार करता है।[३] इसमें सायं की द्वितीयाहुति के अन्तिम पद 'अग्नि' के स्थान पर 'सूर्य' पद तथा प्रातः द्वितीयाहुति के अन्तिम पद 'सूर्य' के स्थान पर 'अग्नि' पद का पाठ होता है। यद्यपि सूत्रकार ने "संसृष्ट होम मेके समामनन्ति" कहकर संसृष्ट का विकल्प दिया है, किन्तु टीकाकार महादेव का कथन है कि—इस शाखा में असंसृष्ट होम की विधि भी नहीं है। इस शाखा में संसृष्ट होम ही होता है।

कृष्णयजुर्वेदीय वैखानस श्रौतसूत्रानुसार तो—आपत्काल में प्रातःकालीन आहुति से पूर्व सायंकालीन आहुति का समय है। इसी प्रकार सायंकालीन आहुति

---

१. आश्व० श्रौ० पूर्वषट्के २·४
२. सत्याषाढ़ श्रौ० ३·७
३. सत्याषाढ़ श्रौ० ३·७

से पूर्व प्रातः कालीन का[1]। अर्थात् किसी कारणवश यदि सायंकालीन अग्निहोत्र न किया जा सका हो, तब आने वाले प्रातः अग्निहोत्र से पूर्व सायं होम किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी विशेष कारणवश प्रातर्होम के छूटने पर सायं होम से पूर्व वह किया जा सकता है। यह स्थायी व्यवस्था न होकर मात्र आपत्कल्प है। यद्यपि 'संसृष्ट होममे के समामनन्ति'[2] सूत्रानुसार वहां संसृष्ट होम पक्ष भी उपलब्ध है, किन्तु आपत्कल्प व्यवस्था को देखते हुये संसृष्ट होम कृष्ण यजुर्वेदियों को अभिमत प्रतीत नहीं होता है।

महर्षि दयानन्दाभिमत विधि—संस्कार विधि के सामान्य प्रकरण में—कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि **सुगन्धित**। घृत, दुग्ध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूं, उड़द आदि **पुष्टिकारक**। शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि **मिष्ट**। सोमलता अर्थात् गिलोय आदि औषधियां—**रोगनाशक**—इन चार प्रकार के द्रव्यों को हव्य कहा है। श्रौतसूत्रों की दृष्टि से देखें तो यह द्रव्य—नित्य के साथ-साथ काम्य अग्निहोत्र के द्रव्यों का विस्तृत रूप हैं।

विधि—संस्कार विधि के गृहाश्रम प्रकरण में संक्षेपतः अग्निहोत्र विधि वर्णित है—तदनुसार समन्त्रक अग्न्याधान (यह ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला उससे कपूर में लगाकर करे। अग्नि के प्रज्वलित होने पर समन्त्रक ही समिदाधान के पश्चात्—'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि गोभिलीय तथा 'देवसवितः प्रसुव यज्ञं·········'(यजु० ३०·१) इस यजुर्वेदीय मन्त्र से वेदि के चारों ओर जलप्रोक्षण करके—आघारावाज्यभागाहुति चार, सायंकालीन (यजु० ३·९–१०) अथवा प्रातः कालीन (यजु० ३·९–१०) चार, भूरग्नये प्राणाय आदि चार, आपो ज्योतिरसोऽमृतम् से एक, यां मेधां देवगणाः (यजु० ३२·४), विश्वानि देव (यजु० ३०·३) तथा अग्ने नय सुपथा (यजु० ४०·१६) से एक-एक कुल मिलाकर सोलह तथा सर्वं वै पूर्णं स्वाहा से पूर्णाहुति।

पञ्चमहायज्ञविधि के अग्निहोत्र प्रकरणानुसार—सायं वा प्रातः की चार-चार तथा भूरग्नये आदि से चार एवं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा से पूर्णाहुति। इस प्रकार पूर्णाहुति व्यतिरिक्त एक काल की आठ आहुतियां हैं। 'एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा' के आधार पर एक ही समय अग्निहोत्र करने पर पूर्णाहुति व्यतिरिक्त सोलह आहुतियां होंगी।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में अग्निहोत्र की प्रसंग

---

१. आ प्रातराहुतिकालात्सायमाहुतिकाल आ सायमाहुतिकालात्प्रातराहुतिकाल इत्यापत्कल्पः—वैखा० श्रौ० २·२

२. वही २·४

प्राप्त सायं वा प्रातः की चार तथा उभय कालार्थ भूरग्नये आदि चार एवं आपो ज्योतिरसोऽमृतम् से एक—ये नौ तथा पूर्णाहुति।

श्रौत एवं महर्षिदयानन्द प्रतिपादित विधि में अन्तर निम्नवत् है—

श्रौत	महर्षि दयानन्दाभिमत
१. अग्न्याधान गार्हपत्य से आहवनीय में। मात्र आश्व० श्रौ० २·२ के अनुसार वैश्यगृह से अग्नि लाकर भी सम्भव है।	१. ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से लाकर अथवा दीपक से।
२. समिदाधान—एक दो या तीन समिधायें।	२. तीन सामिधायें सामिधेनी पाठ पूर्वक।
३. व्याहृति से आहुतियों का वर्णन नहीं। मात्र प्रवर्ग्यान्तर्गत अग्निहोत्र में वैखा० श्रौ० १३·१४ सूत्रानुसार—'व्याहृत्या वा उभयत्र तूष्णीं वा' से व्याहृति विकल्प।	३. उभयकाल व्याहृतिपूर्वक आहुति अनिवार्य।
४. चतुर्थ व्याहृति 'महः' से कोई आहुति नहीं।	४. 'महः' व्याहृति की आध्यात्मिक व्याख्यानुसार—ओ३म् आपोज्योतिरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्' से उभयकाल आहुति।
५. सायंकाल 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि स्वाहा' से तृतीयाहुति नहीं।	५. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा से सायं तृतीयाहुति मौन रहकर।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि—शास्त्रीय दृष्टि से विहित अग्निहोत्र अत्यल्प काल व अल्पव्यय साध्य है। जिसका उद्देश्य प्रथमतः मनुष्य की यज्ञ-कर्म में आस्था एवं नैरन्तर्य को बनाये रखना है। साथ ही उसे यह भी स्मरण कराना है कि—वह अपने दैनन्दिन व्यवहार को उल्वणरहित प्रकाशमय ही बनाये रखे। प्रतीकात्मक दृष्टि से जब सूर्य का प्रकाश न हो तब उसमें अग्नि का प्रकाश हो।

महर्षि दयानन्द ने जहां कात्यायन आदि के अनुसार—'अग्निर्ज्योतिः/सूर्यो ज्योतिः' आदि को स्वीकार किया है वहीं यजुर्वेद ३·९ के प्रथम खण्ड 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' की सायं काल तृतीयाहुति मौन रूप में विहित की है। यह आहुति संकल्प के दृढीकरणार्थ तथा जामित्वदोष से बचने के लिये मौन रूप में

विहित की गई प्रतीत होती है। पञ्चमहायज्ञ विधि एवं ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के—'एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा' वचन से प्रतीत होता है कि—महर्षि को ससृष्ट होम अभिमत है। साथ ही समिदाधान में शास्त्रविहित सामिधेनी मन्त्रों का पाठ वास्तव में यज्ञ की रूपसमृद्धि है। 'ओं भूरग्नये प्राणाय' से लेकर—'ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्' तक ये पांच आहुतियां महर्षि की अपनी उद्भावना हैं, जिन्हें महर्षि ने तैत्तिरीयोपनिषद्गत इन व्याहृतियों की आध्यात्मिक व्याख्या के आधार पर संकलित किया है।

ब्राह्मण व आरण्यकों में मानस वा आध्यात्मिक अग्निहोत्र के संकेत उपलब्ध होते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अग्निहोत्र विषयक वे स्थल जहां विशेषतः जनक-याज्ञवल्क्य के संवाद हैं (यथा—११·३·१·२-४) वह भी अग्निहोत्र के आध्यात्मिक स्वरूप के उद्घाटक हैं। इस सन्दर्भ में तैत्तिरीय आरण्यक भी द्रष्टव्य है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि—परमेश्वर के स्मरण, जलवायु शुद्धिकरण, दान आदि के द्वारा परोपकार तथा ईश्वराज्ञा पालनार्थ एवं आत्मिक बल सम्पादनार्थ = जिससे मनुष्य दुर्गुणों-दुर्व्यसनों से दूर हो सके—अग्निहोत्र नित्य कर्त्तव्य कर्म है।

—:o:—

भास के रूपकों में राष्ट्रिय एकता

डॉ० शशि तिवारी
रीडर, संस्कृत विभाग
मैत्रेयी कालिज (दिल्ली विश्वविद्यालय), दिल्ली

महाकवि भास एक नाटककार के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से अति प्रसिद्ध रहे हैं, क्योंकि कालिदास, बाणभट्ट, वाक्पति राज, राजशेखर और जयदेव आदि प्राचीन कवियों ने ससम्मान इनका स्मरण किया है; किन्तु कालान्तर में भास के नाटक लुप्त हो चुके थे। सन् १९०९ ई० में ही महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री ने त्रावणकोर राज्य में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करते समय भास के तेरह नाटक खोज निकाले, जिन्हें उन्होंने 'त्रयोदश त्रिवेन्द्रम् नाटकानि' नाम से प्रकाशित करवाया।[1] शास्त्री जी द्वारा इन तेरह नाटकों को भासकृत घोषित करते ही एक ओर इनकी प्रामाणिकता विवाद का विषय बन गयी और दूसरी ओर भास के कालनिर्धारण से सम्बद्ध गवेषणाओं की बाढ़ सी आ गई। आदि नाटककार भास पर विद्वानों ने विस्तृत शोध किये[2] और अधिकांश में इन तेरह नाटकों को भासकृत स्वीकार किया, यद्यपि भास का काल मतभेद का विषय बना ही रहा। भास के तेरह नाटक हैं—दूतवाक्य, कर्णभार, दूतघटोत्कच, उरुभंग, मध्यमव्यायोग, पंचरात्र, अभिषेक, बालचरित, अविमारक, प्रतिमा, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त और चारुदत्त। इन रूपकों में मौलिकता, संवैधानिकता नाटकीय स्थलों, शब्द प्रयोगों नाटकीय अवस्थाओं, प्रयुक्त कल्पनाओं आदि से सम्बद्ध रूप स्थापत्य और विचार सम्पदा की दृष्टि से प्राप्त होने वाले अनेक साम्य प्रमाणित करते हैं कि इन रूपकों का रचयिता एक ही है। फिर भास निर्विवाद रूप से 'स्वप्नवासवदत्तम्' के रचयिता स्वीकार किये जाते हैं, अतः इस नाटक चक्र के सभी रूपकों के रचयिता भास को मानने में अब किंचित् भी सन्देह नहीं है।

भास भारती वृत्ति के महनीय आचार्य हैं। वे सरल और अकृत्रिम शैली के प्रणेता हैं। प्रसाद गुण के साथ रसपेशलता, भावों की सम्यक् अभिव्यक्ति, मनो-रंजकता, गम्भीरता, औचित्य, ओजस्विता और माधुर्य आदि गुण उनकी शैली में समाहित हैं। भास के रूपकों का क्षेत्र विस्तृत है और उनकी परिधि अति व्यापक है।

१. गणपति शास्त्री, 'त्रयोदश त्रिवेन्द्रम् नाटकानि', सन् १९१२-१३

२. Bhasa–A Study, Pusalkar, A.D. Munshi Manohar 1968; Bhasa, A. S. P: Aiyyer, Madras I, 1957; महाकवि भास' डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, भोपाल, १९७२

इसमें विभिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले जनसाधारण के मनोभावों, मानसिक विकारों और अनुभूतियों के चित्रण के अतिरिक्त मानवता एवं मानवीय मूल्यों पर गम्भीर चिन्तन उपलब्ध होता है। सभ्यता, समाज, धर्म, प्रेम, संवेदना, जातीय गौरव, भारतीय आदर्श और रमणीय प्रकृति का यथार्थ चित्रण भास की कृतियों की मुख्य विशेषतायें हैं। भास मनुष्य-स्वभाव और प्रकृति के पारखी हैं, इसीलिये मानवीय जीवन के सूक्ष्म आन्तरिक भावों का विश्लेषण उनकी कृतियों में दिखलायी देता है। मानव-जीवन से सम्बद्ध सभी विषयों तथा राष्ट्रिय एवं सामाजिक जीवन से सम्बद्ध सभी समस्याओं पर भास ने चिन्तन किया था। उनकी कृतियों में स्थान-स्थान पर इसके सङ्केत मिलते हैं। भास के पाठक या दर्शक के समक्ष उनकी छवि भारतीय संस्कृति के प्रतिष्ठापक के रूप में उभरती है। उनके रूपकों में राष्ट्रिय एकता के उदात्त स्वर की स्पष्ट गूँज है।

कवि भास में देशभक्ति कूट-कूटकर भरी है। इसी कारण वह नाटकों में विदेशी राजा के विनाश और एकच्छत्र राज्य की कामना करते हैं। नाटकों के अन्तरंग परीक्षण से भास का राष्ट्र-प्रेम सिद्ध होता है। 'स्वप्नवासवदत्त' में महारानी वासवदत्ता का राज्य प्राप्ति के लिये आपद ग्रस्त होते हुये सपत्नीभार को वहन करना राष्ट्र प्रेम का स्पृहणीय चित्र प्रस्तुत करता है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में कर्मठ मन्त्री यौगन्धरायण का स्वामी के मंगल के लिये प्रतिज्ञा करना और कठोर व्रत का पालन करना राज्यभक्ति के साथ-साथ देशभक्ति और देशगौरव के उद्गार भास के सभी भरतवाक्यों में अभिव्यक्त हुए हैं।

भास की कृतियों में प्राप्त राष्ट्रीय एकता के अध्ययन से पूर्व यह जानना अति आवश्यक है कि साहित्यकार का सम्बन्ध किस युग से रहा है और उस युग की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ क्या थीं? नाटककार आत्म परिचय में सर्वथा मौन हैं। अतएव उनका काल निर्धारण एक जटिल प्रश्न है। ई० पू० छठी शताब्दी से लेकर ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के बीच अलग-अलग काल में विद्वानों ने भासकालीन युग को स्थापित करने का प्रयास किया है। डॉ० ए० डी० पुसालकर ने भासकाल से सम्बन्धित अनेक मत-मतान्तरों का मन्थन करके नाटकों के अन्तः परीक्षण के आधार पर उनका समय ई० पू० चौथी-पाँचवी शताब्दी स्थापित किया है। उनके मत में भास महापद्मनन्द (ई० पू० ३८४) के राज्यकाल में थे। भास के भरतवाक्यों में निर्धारित राज्यसीमा महापद्मनन्द की है और भरतवाक्य में प्रयुक्त 'राजसिंह' नाम व्यक्तिवाचक न होकर सम्भवतः नन्दवंश के लिये प्रयुक्त हुआ है। महापद्मनन्द ही वह प्रथम शासक था, जिसने समस्त उत्तर भारत को अपने अधीन किया था।[१] इन नाटकों के उद्भावक श्री गणपति शास्त्री ने भी इस मत को प्रामाणिक माना है।[२] इस मत से भास का समय मौर्यकाल के पूर्व तथा प्रारम्भिक

१. Pusalkar, Bhasa-A Study, p ६३-८४.
२. गणपति शास्त्री, वासवदत्ता की भूमिका।

काल में सन्निविष्ट हो जाता है।[1] ए० एस० पी० अय्यर ने भास का समय ई० पू० चौथी शताब्दी माना है और भास को चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन सिद्ध किया है। उनका अनुमान है कि प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य को ही 'राजसिंह' कहा गया है, जिसने प्रथम बार हिमालय से लेकर विन्ध्य तक समस्त उत्तर भारत को संगठित कर अपने शासन के अधीन किया था।[2] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अनेक प्रमाणों के आधार पर भास को मौर्यकालीन सिद्ध किया है[3] और माना है कि 'भरतवाक्य में निर्दिष्ट राज्य सीमा भारत में सिकन्दर के आक्रमण (ई० पू० ३२६) से पूर्व की राजनीतिक दशा को व्यक्त करती है। भास की रचनाओं में भारत के मानचित्र में उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विन्ध्याचल का वर्णन है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में मगध काशी, वंग, सौराष्ट्र, मिथिला, शूरसेन आदि देशों के नाम आये हैं। इन देशों का अस्तित्व चन्द्रगुप्त से पूर्व ही रहा है। अंगुत्तर निकाय में सोलह जनपदों के नाम आते हैं। बुद्ध के निर्वाण के समय (ई० पू० ४८३) कौशल, अवन्ति, वत्स और मगध--ये चार बड़े राज्य ही अवशिष्ट रह गये थे। शेष राज्य परस्पर विवाद के फलस्वरूप बड़े राज्यों में मिल गये थे। मौर्य साम्राज्य के पूर्ण विकास के समय इन जनपदों की सत्ता समाप्तप्राय थी। चन्द्रगुप्त (ई० पू० ३२१) ने वृहत्तर भारत की स्थापना की। अतः भास द्वारा चित्रित देश और राज्य चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्ववर्ती हैं। भास ने 'राजसिंह' का प्रयोग मौर्य-राजाओं के लिये किया है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के मतानुसार "हिमवद्विन्ध्य-कुण्डलाम्' की चरितार्थता सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व ही घटित होती है। अतः भास को ई० पू० ३२७ के लगभग चौथी शताब्दी ई० पू० का मानना अधिक उचित है। यदि उक्त दोनों मतों का समाहार कर दिया जाये, तब निश्चय ही भास का समय नन्दवंश के अन्तिम प्रमुख राजा महापद्मनन्द के काल और मौर्य वंश के प्रमुख सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के काल के बीच कहीं ठहरता है। तात्पर्य यह है कि ई० पू० चौथी शताब्दी के भारतवर्ष से भास का परिचय रहा है और इसीलिये उस युग के चित्रण के साथ-साथ युगीन अपेक्षाओं के अनुरूप विचारों और आदर्शों को उन्होंने उपस्थापित किया है।

भास के नाटकों का मूल उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा करके राष्ट्र-जागरण-की प्रतिष्ठा करना प्रतीत होता है। राष्ट्र का विघातक तत्त्व गृहकलह है। मौर्यकाल से पूर्व नन्दयुग में अन्तर विद्रोह की अग्नि भड़क रही थी। वैयक्तिक मतभेदों को स्वार्थी तत्त्व अधिक महत्त्व दे रहे थे। फलतः देश की एकता दुर्बल हो रही थी। गृह-कलह के नाश को भास ने राष्ट्रीय एकता का आवश्यक तत्त्व

१. एन० एन० घोष, भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० १२४

२. Aiyyar, Bhasa, p 7–8

३. महाकवि भास, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, भोपाल, पृ० ३८–४२

माना और उसको प्रदर्शित करने के लिये महाभारत पर आश्रित नाटकों का प्रणयन किया। 'दूतवाक्य' और 'दूतघटोत्कच' रूपक यदि आपसी युद्ध के भयंकर परिणामों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं, तो 'पंचरात्र' में दुर्योधन द्वारा पाण्डवों को राज्यार्द्ध दिलाकर घरेलू विद्रोह को शान्त करने की चेष्टा की गई है और कौरव-पाण्डवों की एकता प्रस्तुत की गई है।

राष्ट्रीय एकता को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए भास ने उसके लिये **संगठन-भाव के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना** को परम आवश्यक माना है। मंत्री, राजा, बन्धु, स्वामी, पुत्र आदि सभी के कर्तव्य का निर्धारण करते हुए उन्होंने परिवार, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को स्वस्थ और उन्नत बनाने के लिये त्याग, संयम, शील और आस्था का निर्देश किया है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' और 'स्वप्नवासवदत्त' का प्रमुख पात्र मन्त्री यौगन्धरायण अपने राजा के प्रति राष्ट्र-उद्धार हेतु संलग्न है। वत्सराज उदयन को प्रद्योत से मुक्त कराने के लिये वह कई विपत्तियों का सामना करता है। वह स्वामिभक्ति, कर्मठता और त्याग के साथ कर्तव्यपरायणता का प्रतिरूप है और राष्ट्रहित साधक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह समस्त वत्सदेश को उदयन के अधीन कराने के लिये प्रयत्नशील है और बाह्य आक्रमणों से वत्सदेश की रक्षा भी करना चाहता है। 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक की कथा के अनुसार वत्स देश का बहुत बड़ा भाग आरुणि ने छीन लिया है। वत्स नरेश उदयन की सेना अल्प है और उसे अपने राज्य की चिन्ता भी नहीं है। उस समय दो ही समर्थशाली राजा हैं—अवन्ति नरेश प्रद्योत और मगधनरेश दर्शक। प्रद्योत वासवदत्ता के अपहरण के कारण रुष्ट है इसलिये वह मगध नरेश से आत्मीय सम्बन्ध बनाने की योजना बनाता है। भास ने इन दोनों नाटकों में उस युग में तीन बड़े राज्य—अवन्ती, मगध और वत्स में एकता स्थापित कर परस्पर सम्बन्ध दिखलाये हैं। वत्स नरेश उदयन का विवाह मगध और अवन्ति—दोनों से कराकर तीनों बड़े राज्यों को एक सूत्र में बांधने की चेष्टा की है और आरुणि के रूप में आक्रमण करने वाले स्वदेशी या विदेशी छोटे-छोटे राज्यों को वत्स के अधीनस्थ कराया है। इस प्रकार भास ने **राष्ट्र-उन्नयन** के लिये **भौगोलिक और राजनैतिक स्तर पर** राष्ट्रीय एकता की महत्ता का सन्देश दिया है।

स्वप्नवासवदत्त ६।१६, बालचरित ५।२० और दूतवाक्यम् १।५६ से भरत-वाक्य के रूप में समान पद्य प्राप्त होता है—

> इमाम् सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।
> महीमेकातपत्रांकाम् राजसिंहः प्रशास्तु नः॥

ससागर भगवती वसुन्धरा के हिमालय और विन्ध्य पर्वत कर्णकुण्डल के रूप में चित्रित हैं। समस्त उत्तरी भारत भास की पृथ्वी है, उसके गौरव और वैभव के गान के अन्तर्गत भास ने अनेक प्रदेशों, नगरों और भूभागों का उल्लेख किया है। उनकी कृतियों में अंग, अवन्ती, उत्तरकुरु, कम्बोज, काशी, कुन्तिभोज, कुरु, कुरुजांगल, कोशल, गान्धार, जनस्थान, दक्षिणापथ, मगध, मत्स्य, मद्र, मिथिला, लंका,

वंग, वत्स्य, विदेह, शूरसेन, सौराष्ट्र और सौवीर आदि देशों या प्रदेशों का उल्लेख है, यद्यपि इनकी भौगोलिक स्थिति और अस्तित्व विद्वानों के शोध और मतभेद के विषय बने हुये हैं।[1] इन सबसे भास के विस्तृत भौगोलिक ज्ञान के साथ-साथ राष्ट्र के भौगोलिक परिचय के प्रति उनकी सजगता भी ज्ञात होती है। राष्ट्रीय सम्पत्ति से प्रेम होने के कारण देश के कई ग्राम, वन, पर्वत, नदियों आदि का चित्रण उनकी कृतियों में किया गया है। कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता के प्रतीक हिमालय, विन्ध्य आदि पर्वत, वेणुवन, नागवन आदि वन और विविध व्यवसाय के साधारण जनों के वर्णन द्वारा वस्तुतः उन्होंने राष्ट्रीयता का ही अङ्कन किया है। राष्ट्र की भूमि, सम्पत्ति और संस्कृति का अभिमानपूर्वक गौरवगान करना राष्ट्रीय एकता का मूलाधार है।

राष्ट्रीय एकता का वास्तविक आधार राष्ट्रवासियों की भावात्मक एकता है। यह एकता सांस्कृतिक एकता पर निर्भर करती है। नाटककार भास ने अपनी कृतियों में अपने युग के सांस्कृतिक जीवन का सम्यक् चित्रांकन किया है। जिसके अन्तर्गत उनके द्वारा वर्णित जीवन पद्धति, जन-विश्वास और आचार विचार के अतिरिक्त भोजन-पान, वस्त्र-आभूषण, उत्सव आदि से सम्बद्ध विवरणों की समीक्षा की जा सकती है।[2] राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, गृहस्थ-संन्यासी, स्वामी-सेवक और गुरु-शिष्य आदि सामाजिक वर्गभेद तत्कालीन समाज में थे—इसलिये वर्गभेद पर आश्रित अर्थभेद की उपेक्षा न करते हुये[3] भास ने सांस्कृतिक जीवन के व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत सभी स्तरों पर भेदों को यथावत् दिखाया है, किन्तु भावात्मक स्तर पर एक वर्ग के पात्र भी दूसरे वर्ग के लोगों के प्रति सद्भावना और सौहार्द से सम्पन्न दिखायी देते हैं। भास का एक भी ऐसा पात्र नहीं है, जिसमें सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान न हों। भास ने पात्रों को वर्ग प्रतिनिधि के रूप में चित्रित न करके व्यक्ति विशेष के रूप में चित्रित किया है। भास के सभी पात्र मन, वचन और कर्म से अपने युग के सजीव प्रतिनिधि हैं। उनके शील का क्षेत्र अपरिमित है। उनके पात्रों में देव, दानव, राजा, राजकुमार, मन्त्री, दास-दासियाँ, महात्मा, सैनिक, युवक-युवतियाँ, नर-पिशाच सभी हैं। संक्षेप में भास के नारी-पात्रों में सौन्दर्य, रोमांस, प्रेम और करुणा का समन्वय है, तो पुरुष पात्रों में संस्कारगत गुणों के साथ क्रान्ति, कर्त्तव्य और उत्थान की बलवती भावना पायी जाती है। भास ने अपने नाटकों में सूक्ति वाक्यों का स्थान-स्थान पर समावेश करके

१. महाकवि भास, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० ४६८–४८५;
Pusalkar, Bhāsa—A Stuby p, 322--35C.
२. संस्कृत नाटकों में समाज चित्रण, चित्रा शर्मा, दिल्ली
1969 P. 188–224; Pusalkar, Bhāsa A Study, p. 38–47.
३. भेदाः परम्परागताः हि महाकुलानाम्। पञ्चरात्र १/४१

सार्वजनीन मानव मूल्यों के प्रति आस्था प्रकट की है। सामान्य सामाजिक क्रियाओं–प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न होने वाली ये सूक्तियाँ सांस्कृतिक एकता के नैतिक और आचारिक धरातल को उपन्यस्त करती हैं। जीवन को सुखी और सफल बनाना यदि जीवन का उद्देश्य है, तो भास ने इस उद्देश्य प्राप्ति के मार्ग में स्वच्छन्दता, असावधानी और नीति मार्ग के उल्लघन को अवनति का हेतु माना है।[1]

भास का युग सुख-समृद्धि का युग था। उस समय समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का रूप सुस्थिर हो चुका था। दान और चरित्र को महत्त्व देते हुये भी भास ने वर्ण-व्यवस्था में पूर्ण आस्था प्रकट की है और ब्राह्मणों को सर्वोच्च और पूज्य बताया है। उन्होंने शूद्र[2] और अन्त्यज[3] को चारों वर्णों में अधम स्थान पर रखा है। यद्यपि वर्णन किया है कि शूद्र भी कुलीन व्यक्तियों के साथ आदरपूर्वक अभिभाषण आदि करते थे।[4] अधिकांश में वर्ण विभाजन सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से क्रियात्मक और श्रमगत था, इसीलिये सभी वर्ण अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण थे। वर्ण-व्यवस्था के कठोर होने पर भी भास के युग में जाति-भेद प्रादुर्भूत नहीं हुये थे। इसीलिये उनकी कृतियों में जातिभेद की उपेक्षा दिखलायी देती है। कालिदास-युग में जाति वर्णन मिलता है, परन्तु भास के रूपकों में वर्ण संकरता या उद्योगों के कारण उत्पन्न होने वाले जाति-भेद के सङ्केत नहीं मिलते हैं। सामाजिक स्तर पर नर और नारी के स्वरूप, गुण और कार्य के भेदों के होते हुये भी भास की दृष्टि में दोनों का लक्ष्य एक है। नारी भी परिवार और घर से ऊपर उठकर देशहित चिन्तन कर सकती है। वासवदत्ता इसका उदाहरण है। इसलिये भास की नारियां अधिकतर शिक्षित और जागरूक हैं। वे हर क्षेत्र में पुरुष की सहयोगिनी हैं।[5] भास की दृष्टि में सभी क्षेत्रों में वह योगदान दे सकती हैं। इस प्रकार भास ने सामाजिक स्तर पर राष्ट्रीय एकता के आधारभूत सिद्धान्तों का संकेत अपने रूपकों में यत्र-तत्र किया है।

राष्ट्रीय एकता के प्रति निष्ठावान् भास ने अपने जन्म से भारत के किस भूभाग को अलंकृत किया था, यह अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। विद्वान् रूपकों की उपलब्धि केरल में होने से उन्हें दक्षिण भारत और रूपकों में उत्तर भारत के भौगोलिक निर्देशों की अधिकता से उन्हें उत्तर भारत का

१ स्वच्छन्दतो व्रजति नेच्छति नीतिमार्गम्,
बुद्धिं शुभां सुविदुषामवशी करोति। अविमारक, ३/१

२. द्विज इव वृषलं पार्श्वे न सहते। पञ्चरात्रम् १/६

३. श्रुतमस्माभिरन्त्यज इति। अविमारक, अङ्क १

४. नीचैरप्यभिभाष्यन्ते नामभिः क्षत्रियान्वयाः। पञ्चरात्रम् २/४७

५. ननु सहधर्मचारिणी खल्वहम्। प्रतिमानाटकम्, अङ्क १

निवासी ठहराते हैं। कुछ विद्वान् उन्हें उज्जयिनी, मगध या बद्रीनाथ (उत्तरकुरु) से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। तेरह रूपकों की रचना करने पर भी अपने जन्म स्थान का कोई निश्चित संकेत न छोड़ना प्रकट करता है कि कवि दृष्टि में सम्पूर्ण राष्ट्र ही उनकी मातृभूमि रही है। राष्ट्र के अनेकानेक भूभागों का गौरव-पूर्वक अङ्कन उनके राष्ट्रीय कवि रूप को अभिव्यक्त करता है। उनके रूपक जनसाधारण से लेकर राजवर्ग तक के लोगों की वाणी से सम्पन्न होकर मानो समूह की वाणी को ही प्रकट करते हैं। उनके नाटकीय विवरण जिस प्रकार देश की व्यापकता और देशवासियों के प्रति चिन्तन की समग्रता का बोध कराते हैं, उससे निश्चित रूप से भास को राष्ट्रीय चेतना का राष्ट्रीय नाटककार कहा जा सकता है।

—:o:—

गुणीभूतालोक (मध्यमकाव्यालोक)

डा० गोपराजू रामा,
प्रवाचक
गंगानाथ झा के० सं० विद्यापीठ, इलाहाबाद

ध्वन्यालोक में जिस प्रकार ध्वनि का विवेचन हुआ है उसी प्रकार समानान्तर रूप से गुणीभूतव्यंग्य का भी विवेचन हुआ है। उस विवेचन को प्रकाश में लाने पर ध्वन्यालोक की तरह "गुणीभूतालोक" भी सिद्ध हो जायगा। इस विवेचन से गुणीभूतव्यंग्य का प्रकाश इस निबन्ध में किया जा रहा है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है। उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि होती है। व्यंग्य अर्थ से इस काव्य की आत्मा का सीधा सम्बन्ध है। व्यंग्य अर्थ के प्रधान रहने पर वह काव्यविशेष ध्वनि शब्द से व्यवहृत होता है। उस व्यंग्य अर्थ के अप्रधान रहने पर "गुणीभूतव्यंग्य काव्य" से व्यवहृत होता है।

ध्वनि का प्रपंच व्यापक है। उसके कुल मूलतः ३५ भेद हैं। गुणीभूतव्यंग्य भी समानान्तर से उतना ही व्यापक है। इन विषयों पर अग्रिम पंक्तियों में विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

गुणीभूतव्यंग्य का लक्षण

काव्य में व्यंग्य की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर काव्य दूसरे तरह से दो प्रकार का किया जा सकता है। वे दोनों प्रकार हैं—ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्य काव्य। ध्वनिकार के गुणीभूतव्यंग्य का वास्तविक लक्षण इस प्रकार है।

"प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥"

इस तरह गुणी भूतव्यंग्य का लक्षण निरूपण करने से पूर्व ध्वनिकार ने काव्य में ध्वनि के आभास होने की बात कही। वह इस प्रकार है।

"एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते।" (पृ० १४५)

ध्वनि के आभास का निरूपण

ध्वनिकार ने संक्षेपतः रस, वस्तु और अलंकारों के व्यंग्य होकर आभास होने की बात कही। उस स्थिति में व्यंग्य अर्थ जिस प्रकार अप्रधान होकर गुणीभूतव्यंग्य हो जाता है। इसका निरूपण किया।

रस के प्रति आभास इस प्रकार है—

रस—इसके परिवार में रस, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसंधि

और भाव शवलता आते हैं। इनको रसादि ध्वनि से जाना जाता है। इन्हें असंलक्ष्यक्रम ध्वनि या अविवक्षित वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। ये जब प्रधान रहते हैं ध्वनि शब्द से व्यवहृत होते हैं। ये जब वाच्य अर्थ के प्रति अंग होते हैं तब वाच्य से अप्रधान होकर रसवदलंकार कहे जाते हैं। ध्वनिकार ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रांगं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥

वाच्य अर्थ के प्रति रस के अंग होने पर रसवदलंकार, भाव के अंग होने पर प्रेयोऽलंकार, भावाभास के अंग होने पर ऊर्जस्वि अलंकार आदि रसवदलंकार है।

वस्तु ध्वनि

वस्तु ध्वनि भी आभास मात्र से वाच्य के प्रति अप्रधान होकर गुणी भूतव्यंग्य हो जाती है। ध्वनिकार ने इसका विवेचन किया है।

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः॥ २.३३

अव्युत्पत्तिकृत, अशक्तकृत और स्खलद्गतिकृत काव्य में, जहाँ प्रायः वस्तु ही रहता है, ध्वनि का आभास होता है। अतः गुणी भूतव्यग्य हो जाता है। जैसे—

कमलाकर न मलिता हंसा उड्डायिता न च सहसा।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम्॥ (पृ० १४६)

यहाँ पर प्रतीयमान अर्थ "मुग्धवधु के जलधर प्रतिबिम्ब-दर्शन" वाच्य के प्रति अंग है।

वेतसलता गहनोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यंगानि॥ (पृ० १४६)

अत्र "सातिशयमदनपरवशता प्रतीति" जो व्यंग्य है वह वाच्य के प्रति अंग है। अतः गुणी भूतव्यंग्य है।

अलंकार

अलंकारवर्ग प्रायः गुणीभूतव्यंग्य का विषय है। ध्वनिकार शुरू से ही निरूपण करते आये हैं कि अलंकारों में ध्वनि नहीं रहती। यहाँ पर वाच्य और व्यंग्य की बराबर प्रधानता रहती है। ध्वनिकार ने कहा है कि अलंकारों में व्यंग्य वाच्यानुगामी रहता है। अतः ध्वनि की प्रधानता नहीं रहती।

"व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः॥
व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपिवा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥"

(१) वाच्यमात्रानुयायी व्यंग्य जहाँ अप्रधान रहता है वहाँ समासोक्ति आदि वाच्य अलंकार कहे गये हैं। व्यंग्य का बोध प्रयास साध्य होने पर या वाच्यार्थ का अनुगामी होने पर व्यंग्य की प्रधानता न रहने से ध्वनि नहीं होती। गुणी भूतव्यंग्य ही है।

(२) सकर अलंकार भी गुणी भूतव्यंग्य का विषय हो जाता है। ध्वनिकार ने कहा है कि जहाँ शब्द और अर्थ व्यंग्य के प्रति ही निहित रहते हैं वहीं ध्वनि का विषय हो सकता है। संकरालकार ध्वनि का विषय नहीं बन सकता।

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रतिस्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झतः॥

(३) गौणवृत्ति से प्रतीत होने के कारण लावण्य आदि स्थलों में ध्वनि नहीं हो सकती है। यह ध्वनिकार का मत है।

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः॥ १·१६

(४) ध्वनिकार ने ध्वनि के भक्ति में अन्तर्भाव होने वाली बात का खण्डन करते समय कहा है कि अगर ध्वनि को भक्ति में अन्तर्भाव करने पर तुले हुये हो तो यह हो सकता है कि किसी ध्वनि-भेद का उपलक्षण हो सकता है। यहाँ पर पहली बार ध्वनिकार ने गुणी भूतव्यंग्य नाम का कोई विषय है इसका संकेत दिया है।

"कस्यचित् ध्वनि भेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।"

(५) अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥ २·२८

किसी अलकार में किसी अन्य अलंकार की प्रतीति हो वहाँ वाच्यपरक ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति रहती है। अतः वहाँ ध्वनि नहीं हो सकती। गुणीभूत-व्यंग्य ही है।

(६) व्यंग्य होने पर भी वाच्यत्वेन बोध जहाँ अलंकारों में होता है वहाँ वे अलंकार ध्वनि की छाया मात्र ही हैं।

'शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः॥ २ २९

व्यंग्यत्वेऽप्यलंकाराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तः पात०। इतरथा तु गुणीभूतव्यग्यत्वम्। यहाँ पर "ध्वन्यंगतां" शब्द में बहुव्रीहि है। "ध्वनि है अंग जिसका" अर्थात् अलंकार।

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यंगता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥ २·३०
अलंकारान्तरव्यंग्य भावे ध्वन्यंगता भवेत्।
चारुत्वातिशयता व्यंग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते॥ २·३१

७. गुणी भूतव्यंग्य और कुछ नहीं है। यह प्रतीयमान अर्थ की छाया है। इस तरह की प्रतीयमान अर्थ की छाया विशेषतः अलंकारों में पायी जाती है। ध्वनिकार ने यह बात कही।

"वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमेसति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ ३·३७
मुख्या महाकविगिरामलङ्कृति भृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषालज्जेव योषिताम् ॥ ३ ३८

(८ ध्वनिकार ने यह भी स्पष्ट किया कि ध्वनि का मार्ग जैसा संकीर्ण है वैसे ही गुणी भूतव्यग्य का भी मार्ग संकीर्ण है। युक्ति के आधार पर ईषत् अन्तर में ध्वनि भी गुणी भूतव्यंग्य हो जाता है। इनका आगे कहना है कि हमेशा ध्वनि के प्रति झुके रहना नहीं चाहिये और ध्वनि में ही झूमते रहना नहीं चाहिये। ध्वनि के अतिरिक्त समानान्तर रूप से एक और प्रभेद है। वह है गुणी भूतव्यंग्य।

"प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥ ३·४०

संकीर्णो हि कश्चित् ध्वने गुणी भूतव्यंग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः। तत्र यद्यस्य युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्त्तव्यः न **सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्।**

(९) वाच्यालंकार समूह जिनमें व्यंग्य गौण होकर उसे अनुगम करता है वहाँ गुणीभूतव्यंग्य है।

वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमेसति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ ३·३७

(१०) ध्वनिकार के अनुसार महाकवियों की वाणी भी प्रतीयमान की छाया जैसी प्रतीत होती रहती है। उनके महाकाव्यों में प्रतीयमान की छाया पायी जाती है। वह नारियों में लज्जारूपी भूषा (अलंकार) की तरह ही है।

मुख्या महाकविगिरामलकृति भृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषालज्जेव योषिताम् ॥ ३·३८

(११) ध्वनिकार ने गुणी भूतव्यंग्य को प्रतीयमान की छाया, ध्वनिनिस्पन्दरूप कहा है। गुणीभूतव्यग्य को अतिरमणीय भी कहा है।

"तदयं ध्वनिनिस्पन्दरूपः द्वितीयोऽपि महाकविविषयः अतिरमणीयः लक्षणीयः सहृदयैः। (पृ० २६२)

अनया सुप्रसिद्धोऽपि अर्थः किमपिकामनीयकमानीयते" पृ० २६४

गुणी भूतव्यंग्य ध्वनि का निस्पन्दरूप है, और अतिरमणीय है। ध्वनि को रमणीय कहकर गुणी भूतव्यंग्य को अतिरमणीय कहने में ध्वनिकार का यह ही आशय प्रतीत होता है कि गुणी भूतव्यंग्य भी काव्य में अपनी महत्ता रखता है।

गुणीभूतव्यंग्य के भेद एवं उनका नामकरण

ध्वनिकार के परवर्ती आचार्यों ने गुणीभूतव्यंग्य के प्रभेदों का नामकरण

किया है। उनमें "संदिग्धप्राधान्य" और "असुन्दर" उनके मौलिक भेद हैं। ध्वनिकार ने इनके बारे में चर्चा नहीं की है। ध्वनिकार ने किन-किन गुणी भूत-व्यंग्य की बातों का नामकरण किया है वह इस प्रकार है।

तत्र अगूढम्—ध्वनिकार के परवर्ती आलंकारिकों ने जिस **'अगूढम्'** नामक गुणी भूतव्यंग्य-भेद का उल्लेख किया है उसे ध्वनिकार ने प्रकारान्तर से उल्लेख किया है।

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेवं योज्यः सुमेधसा॥

इसमें यह कहा जा सकता है कि प्रसन्नगंभीरपद और सुखावह काव्य-रचना में व्यंग्य गूढ नहीं रहता। इसको ही परवर्ती आलकारिकों ने "अगूढ शब्द" से नामकरण किया हैं।

अपरस्यांगम्—ध्वनिकार ने जिन रसवदलंकारों की चर्चा की है उनको परवर्ती आचार्यों ने "अपरस्यांग" नाम से गुणीभूतव्यंग्य-भेद का नामकरण किया। इन परवर्ती आलंकारिकों ने **रसवदलंकार की चर्चा ही नहीं की :**

वाच्यसिध्यंगम्—

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः॥

इस ध्वनिकार के आशय को परवर्ती आलंकारिकों ने "वाच्यसिध्यंग" नामक गुणीभूतव्यंग्य भेद में शामिल किया है।

अस्फुटम्—

यव प्रतीयमानोऽर्थः प्रक्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्यांगतयावापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः॥

प्रतीयमान अर्थ क्लिष्ट ढंग से प्रतीत हो या वाच्य के अंग होकर प्रतीत हो तब गुणीभूतव्यंग्य हो जाता है।

ध्वनिकार के इस मत को परवर्ती आचार्यों ने "अस्फुट" नामक गुणी भूत-व्यंग्य भेद में शामिल किया है। कारिका की दूसरी उक्ति का वाच्यसिध्यंग से नामकरण किया है।

संदिग्धप्राधान्य—

इसके बारे में ध्वनिकार ने कुछ भी नहीं कहा। यह प्रभेद परवर्ती आचार्यों का मौलिक है।

तुल्यप्राधान्य—

ध्वनिकार ने समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपह्नुति विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, संकर आदि अलंकारों में वाच्य और व्यंग्य तुल्यप्रधान से रहने की बात कही जहाँ गुणीभूतव्यंग्य रहता है।

इस बात को ही परवर्ती आचार्यों ने "तुल्यप्राधान्य" नामक गुणीभूतव्यंग्य-भेद से स्वीकार किया है ।

काक्वाक्षिप्तम्—

काकु से व्यंग्य की प्रतीति होने पर गुणी भूतव्यंग्य की बात ध्वनिकार ने की है ।

"अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ।। ३·३८"

इस उक्ति को परवर्ती आचार्यों ने "काक्वाक्षिप्तम्" नाम से ग्रहण किया है ।

असुन्दरम्—

प्रतीयमान अर्थ के असुन्दर होने पर गुणीभूतव्यंग्य की बात परवर्ती आचार्यों ने की है । परन्तु ध्वनिकार ने "अतिरमणीया कामपि कमनीयतामानीयते" इत्यादि उक्तियों से गुणीभूतव्यंग्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है ।

"तदयं ध्वनिनिस्पन्दरूपः द्वितीयोऽपि महाकविविषयः अतिरमणीयः लक्षणीयः सहृदयैः" (पृ० २६३)

"अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते ।" (पृ० २६४)

इस प्रकार "संदिग्धप्राधान्य" और 'असुन्दर' नामक गुणीभूतव्यंग्य भेद ध्वनिकार के मत से भिन्न और अतिरिक्त हैं ।

ध्वनि प्रभेदों में ध्वनि का आभास और गुणीभूतव्यंग्य

ध्वनिकार ने ध्वनि के प्रभेदों में ध्वनि का आभास रहने पर गुणीभूतव्यंग्य होने की बात का सोदाहरण निरूपण किया ।

तत्र अविवक्षितवाच्य ध्वनिः । यह रसादि ध्वनि होती है । रस आदि वाच्य के प्रति अंग होने पर रसवदलंकार होते हैं । यह दो प्रकार को है । शुद्ध और संकीर्ण । शुद्ध रसवदलंकार का उदाहरण जैसे—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः ।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन्प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्धवा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ।।

इस श्लोक में शुद्ध करुणरस का अग भाव स्पष्ट है । **संकीर्ण रसवदलंकार** का उदाहरण जैसे—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तः चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिंगन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराग्निः ।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि—उसमें ध्वनि का आभास जैसे—

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

यहाँ पर "अहो दैवगतिः" इन पदों में ध्वनि का आभास है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में ध्वनि का आभास—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥ पृ० २५६

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में ध्वनि का आभास जैसे—

लक्ष्मी दुहिता जामाता हरिः गृहिणी गगा।
अमृतमृगांकौ सुतौ अहो कुटुम्ब महोदधेः॥

यहाँ पर शब्दशक्ति मूल ध्वनि का आभास है।

अर्थशक्तिमूल ध्वनि में ध्वनि का आभास—

अर्थशक्तिमूल ध्वनि के अलंकार वर्ग में जहाँ एक अलंकार से दूसरे अलंकार की प्रतीति होती है वहाँ वाच्य और व्यंग्य तुल्यप्रधान होते हैं। अतः ध्वनि का आभा होता है। गुणी भूतव्यंग्य होता है। इसलिये ध्वनिकार की पंक्तियों में—

समासोक्ति—समासोक्तौ तावत् व्यंग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते (पृ० ४२)

आक्षेपः—व्यंग्यविशेषाक्षेपिणः वाच्यस्यैव चारुत्वम्। प्राधान्येन वाक्यार्थः आक्षेपोक्ति सामर्थ्यादेव ज्ञायते। तत्र शब्दोपारूढरूपो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यंग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्। (पृ० ४३)

दीपक अपह्नुति आदि—व्यंग्यत्वेन उपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वात् न तया (उपमया) व्यपदेशः। (पृ० ४४)

एषु वाच्यस्य प्राधान्यं व्यंग्यस्यानुयायित्व प्रसिद्धमेव। (पृ० ४७)

विशेषोक्ति—व्यंग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम्। न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचित् चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम्। (पृ० ४५)

पर्यायोक्तम्—न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यंग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात् (पृ० ४७)

संकर—संकरालंकारेऽपि यदालंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति तदा व्यंग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वात् न ध्वनिविषयत्वम्। (पृ० ४८)

अलंकारद्वयसंभावनायां तु वाच्यव्यंग्ययोः समं प्राधान्यम् (पृ० ४९)

अलंकारान्तरस्य रूपकादेरलंकारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यंग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते, नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकादावलकारे उपमायागम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानात् न ध्वनिव्यपदेशः। (पृ० १२२)

एवं विधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यंग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते तत्र व्यंग्यस्यांगत्वेन प्रतीतेः ध्वनेरविषयत्वम् । (पृ० १४६)

व्यंग्यस्यालंकारस्य गुणी भावः दीपकादिर्विषयः (पृ० २५७)

अप्रस्तुतप्रशंसा—सामान्यविशेषभावात् निमित्तनिमित्ति-भावाद्वा अभिधेय-प्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् (पृ० ५०)

इस प्रकार ध्वनि के मूल भेद भी आभास से ग्रस्त होकर गुणी भूतव्यंग्य का विषय बन जाते हैं ।

ध्वनिकार ने सामान्यतः अमुक-अमुक स्थलों पर ऐसा होने पर "ध्वनिगोचर नहीं होता है" "ध्वनि का विषय नहीं हो सकता है" "ध्वनि से अलग है" इत्यादि वाक्यों का ही प्रयोग किया है । गुणीभूतव्यग्य की चर्चा की है । लेकिन उसके भेद भी होते हैं··· · इस विषय पर वे मौन हैं ।

परवर्ती आचार्य

ध्वनिकार के इन बातों का वर्गीकरण परवर्ती आलंकारिकों ने किया । ध्वनिकार के रसवदलंकार का उन्होंने अपरांगव्यंग्य में अन्तर्भाव किया है ।

मम्मट ने रसवदलंकारों का "अपरस्यांग" नामक गुणी भूतव्यग्य में अन्तर्भाव किया है । वे कहते हैं कि······

"अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थोभूतस्य) अंगं रसादि अनुरणनरूपं वा"

आचार्य विश्वनाथ ने 'तत्रस्थादितरांगं" नामक गुणीभूतव्यग्यप्रभेद में रसवदलंकारों को गतार्थ किया । तदनुसार उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं ।

एकावलीकार विद्याधर ने रसवदलंकारों को "अपरांग व्यग्य" नामक गुणी भूतव्यंग्य में समावेश किया है । उनका कथन है कि·····

"वाच्यस्य रसादेर्वा वाक्यार्थस्यापरस्य यत्रांगम् ।
व्यग्यं भवति तदेतत् तज्ज्ञैरपरांगमाख्यातम् ।। ४·२

तादृशस्य रसादेरपरस्यापरं रसादिरंगम् ।

परवर्ती आचार्यों में गुणीभूतव्यंग्य का स्वरूप

मम्मट ने गुणीभूतव्यग्य के आठ भेदों का निरूपण किया । उनका क्रम इस प्रकार है । (१) अगूढम्, (२) अपरस्यागम्, (३) वाच्यसिध्यगम्, (४) अस्फुटम्, (५) संदिग्ध प्राधान्यम्, (६) तुल्यप्राधान्य, (७) काक्वाक्षिप्तम्, (८) असुन्दरम् । विश्वनाथ का क्रम इस प्रकार है—

(१) इतरांगम्, (२) काक्वाक्षिप्तम् (३) वाच्यसिध्यंगम्, (४) संदिग्ध-प्राधान्यम्, (५) तुल्यप्राधान्यम्, (६) अस्फुटम्, (७) अगूढम्, (८) असुन्दरम् ।

एकावलीकार विद्याधर ने आठ भेद ही बताये हैं । इनकी विशेषता यह है कि प्रत्येक गुणीभूतव्यग्य का लक्षण प्रस्तुत किया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ का मत

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने गुणीभूतव्यंग्य के भेदों का पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया है। लेकिन किन-किन परिस्थितियों में सूक्ष्म अन्तर से व्यंग्य अप्रधान होकर गुणीभूतव्यंग्य हो जाता है—इनका विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं।

(१) अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोः जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यंग्ययोः प्रविष्ठं निखिलमलंकारप्रधानं काव्यम्। (पृ० २३)

पण्डितराज ने काव्य के चार भेद बताये हैं। शब्दचित्र और अर्थचित्र को उन्होंने अलग-अलग काव्य माना है। अर्थचित्र इनके मत में मध्यम काव्य है। अन्य आलंकारिकों का मध्यमकाव्य इनके मत में उत्तम काव्य है। इन्होंने अपने मत में जो उत्तम काव्य और मध्यम काव्य है इन्हें जागरूक गुणी भूतव्यंग्य अजागरूक गुणीभूतव्यंग्य से व्यवहृत किया है।

अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य उत्तम काव्य में भी रहता है।

(२) यत्र च शब्दार्थ चमत्कृत्योः एकाधिकरण्यं तत्र तयोः गुणप्रधानभावं पर्यालोच्य यथालक्षणं व्यवहर्तव्यम्। समप्राधान्ये तु मध्यमतैव।

पण्डितराज के मत में शब्दचमत्कृति के प्रधान रहने पर अधमकाव्य और अर्थचित्र के प्रधान रहने पर मध्यमकाव्य होता है। दोनों का सामानाधिकरण्य हो जाने पर उसमें गौण भाव और प्रधान भाव का निर्धारण करके उस काव्य को व्यवहार में लाना चाहिये। यदि दोनों समप्रधान होते हैं तो मध्यमकाव्य ही माना जायेगा।

(३) यत्तुचित्रमीमांसायां—"वागर्थाविव संपृक्तौ" इत्यत्र "रसध्वनिः, निरतिशय प्रेमसालिताव्यंजनात्" इति तद्ध्वनिमार्गानाकलन-निबन्धनम् पार्वती परमेश्वरविषयक कविरतौ प्रधाने निरतिशयप्रेम्णो गुणी भावात्। न हि गुणीभूतस्य रत्यादेः रसध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं युक्तम्। "भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतयास्थितः" इति सिद्धान्तात्।

पण्डितराज के अनुसार रत्यादि यदि गुणीभूत हो जाता है रसध्वनि का विषय नहीं होता है, गुणीभूतव्यंग्य ही होता है।

(४) कवि की रति में किसी रस के स्थायिभाव के गुणीभूत होने पर रसध्वनि नहीं हो सकती। वह गुणीभूतव्यंग्य ही होता है। पण्डितराज ने इसके कई उदाहरण दिये हैं। (द्र० पृ० ४३, ४६ इत्यादि)

पण्डितराज के मत में रसवदलंकार

(१) रसगंगाधरकार ने रसवदलंकारों को "रसालकार" के नाम से चर्चा की। उन्होंने रसवदलंकार के विषय में मतान्तर का भी उल्लेख किया।

"एवं च संक्षेपेण निरूपिताः रसाः। ऐषां प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं गुणी भावे तु रसालंकारत्वम्।

केचित्तु—प्राधान्य एषां रसत्वमन्यथा अलंकारत्वमेव । रसालंकारव्यपदेशस्तु अलंकारध्वनिव्यपदेशवत् ब्राह्मणश्रमणन्यायात् । (पृ० ५६)

(२) भावोदय आदि में उदय आदि के वाच्य होने पर भावोदय ध्वनि नहीं रहती । ऐसा पण्डितराज का मत है ।

"व्यज्यमान भावेषु अभिहित तत्प्रशमादिषु काव्येषु भावप्रशमादि ध्वनित्वं न स्यात् ।" एवं व्यज्यमान भावप्रतियोगिकस्य प्रशमस्य वाच्यत्वे भावशान्ति ध्वनित्वं न स्यात्" । (पृ० १२८)

पण्डितराज के अनुसार इनके भेद

रसगंगाधरकार ने गुणीभूतव्यंग्य के प्रभेदों के नाम बताने के लिए प्रतिज्ञा की । लेकिन सभी भेदों को एकत्र नामतः निर्देश नहीं किया । कुछ भेदों का उल्लेख अलंकार प्रकरण में शास्त्रचर्चा के समय स्पष्ट रूप से किया है ।

"एवमेषां रसादीनां प्राधान्येन निरूपितान्युदाहरणानि । **गुणी भावे तु वक्ष्यन्ते, नामानि च** । तत्र प्राधान्य एव एषां रसादित्वं, अन्यथा तु रत्यादित्वमेव ।

(पृ० १३४)

(२) पण्डितराज ने "वाच्यसिध्यंग" गुणीभूतव्यंग्य भेद का उल्लेख करके उदाहरण प्रस्तुत किया । जैसे—

"मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः— इत्यादि पृ० १६६

अत्र प्रश्नविषयस्य नानाजन्मगतवृत्तान्ततया तज्ज्ञं प्रत्येव प्रष्टुमौचित्येन अनभिज्ञं स्वजीवं प्रति प्रष्टुमयोग्यत्वात् प्रश्नान्यथाऽनुपपत्या आक्षिप्ता गुणीभूत-व्यंग्यरूपा । पृ० १६७

(३) पण्डितराज ने वाच्यसिध्यंग का निर्वचन भी दिया है ।

"यादृशव्यंग्यप्रतिपत्ति विना यत्र वाच्यस्य सर्वथाप्यनुपपत्तिः तद्वाच्यसिध्य-गम् । यत्र च प्रकारान्तरेणापि तस्योपपत्तिः शक्या कर्तुं न तत्र तया ।" पृ० १६८

(४) "असुन्दरम्" नामक गुणीभूतव्यंग्य-भेद का भी पण्डितराज न उल्लेख किया है । जैसे—

कस्मै हन्त फलाय सज्जन गुणग्रामार्जने सज्जसि
स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वचः पथ्य समाकर्णय । इत्यादि

अत्र यद्यपि रमणीयाः पदार्थाः कलेः नित्यमदनीया इति प्रौढोक्तिसिद्धेन मतुं कामयसे चेत् गुणप्राप्तौ यतस्वेति वस्तु व्यज्यते । तथापि तस्य पर्यायोक्तात्मनो वाच्यापेक्षया **सुन्दरताविरहात् गुणीभूतत्वमेव** । (पृ० १७१-१७२)

अन्य प्रसंग

पण्डितराज ने शास्त्रचर्चा के प्रसंग में गुणीभूत व्यंग्य की चर्चा की । इसका उल्लेख इस प्रकार है ।

(१) अलंकारस्योपमादेः ध्वन्यमानतायां प्राधान्यात् रसादिवदलंकारान्तरो-पस्कार्यत्वे न कोऽपि तावदस्ति विरोधः (पृ० २२८)

(२) यथा हि दीपकसमासोक्त्यादौ गुणीभूतव्यंग्यसत्वेऽप्यलंकारत्वं न हीयते एवमनन्वये प्रधानव्यंग्यसत्वेऽपीति न किंचिद्विरुद्धम् । अनन्वयशरीरस्य स्वसादृश्यमात्रस्य वाच्यत्वेन वाच्यालंकारव्यपदेशोऽपि सुस्थ एव। दीपकाद्यलंकारकाव्ये गुणीभूतस्य व्यंग्यस्य सत्वात्, अस्तु नाम गुणी भूतव्यंग्यत्वम् (पृ० २८०)

(३) नित्यव्यंग्यानां रसभावादीनामपि परांगतायामलंकारत्वाभ्युपगमात् प्रधानव्यंग्यव्यावृत्यर्थं पुनरुपस्कारकत्वं सर्वेष्वलंकारलक्षणेषु देयम् । (पृ० २६१)

(४) न हि वाच्यस्य व्यभिचारिणो भावत्वं वक्तुं युक्तम् । 'व्यभिचार्यञ्जितो भाव" इति सिद्धान्तविरोधात् । (पृ० २६१)

(५) सर्वथा वाच्यवृत्यचुम्बितस्यैव तथात्वमिति ध्वनिमार्गप्रवर्तकैः सिद्धान्तितत्वात् (पृ० ३४८)

(६) तदिव्यं व्यंजनमाहात्म्यादेवाप्रकृतवाक्यार्थं तादात्म्येन प्रकृतवाक्यार्थोऽवतिष्ठते । गुणीभूतव्यंग्यभेदश्चायमिति तु रमणीयः पन्थाः । (पृ० ५००)

गुणीभूतव्यंग्य-भेदों के लक्षण—विभिन्न मतों म

(१) **अगूढम्**—मम्मट का लक्षण इस प्रकार है—

"कामिनीकुचकलशवत् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।"

विश्वनाथ ने इसका लक्षण नहीं बताया । उदाहरण में ही समन्वय किया ।

विद्याधर का लक्षण इस प्रकार है—

"तरुणी कुचमण्डलमिव गूढं यस्माच्चमत्कुरुते ।
वाच्यायमानमस्मात् व्यंग्यमगूढं गुणीभूतम् ।। पृ० ५६

(२) **अपरस्यांगम्**—

मम्मट का लक्षण यह है कि······

"अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थी भूतस्य) अंगं रसादि, अनुरणनरूपं वा

विश्वनाथ का लक्षण—इतरांगं, इतरस्य रसादेः अंगं रसादिव्यंग्यम् ।

विद्याधर का लक्षण—

वाच्यस्य रसादेर्वा वाक्यार्थस्यापरस्य यत्रांगम् ।
व्यंग्यं भवति तदेतत्तज्ज्ञैरपरांगमाख्यातम् ।। पृ० ५६

(३) **वाच्यसिध्यंगम्**—

मम्मट का लक्षण—

"व्यंग्यं वाच्यस्य सिद्धिकृत् यत्र तत् वाच्यसिध्यंगम्"

विश्वनाथ का लक्षण—

"व्यंग्यं यदि वाच्यसिद्धावंगं भवति तत् वाच्यसिध्यगम्"

विद्याधर का लक्षण—

"वाच्यस्य सिद्धिहेतुं कृतिनः कथयन्ति वाच्यसिध्यंगम्"

(४) अस्फुटम् —

मम्मट का लक्षण —

"व्युत्पन्नैरपि झटित्यसंवेद्यम् ।"

विश्वनाथ का लक्षण —

"व्युत्पन्नानामपि झटिति अस्फुटम् ।"

विद्याधर का लक्षण —

"यत्र न सदपि व्यंग्यं स्फुटतां भजते तदस्फुटाभिख्यम्"

(५) संदिग्धप्राधान्य —

मम्मट का लक्षण —

"प्रतीयमानं प्रधानं किं वा वाच्यमिति संदेहे सति संदिग्धप्राधान्यं भवति ।"

विश्वनाथ का लक्षण —

"प्राधान्यस्य निश्चया भावादेव वाच्यादनुत्तमत्वं व्यंग्यम् ।"

विद्याधर का लक्षण —

"यदि वाच्यं व्यंग्यं वा मुख्यतया निश्चितं न भवेत् ।
सदिग्धप्राधान्यं तत्तु सुधीभिर्विनिदिष्टम् ।।

(६) तुल्यप्राधान्यम् —

मम्मट का लक्षत्र —

"व्यंग्यस्य वाच्यस्य च यत्र समं प्राधान्यं भवति तत्तुल्यप्राधान्यम् ।"

विश्वनाथ का भी यही मत है ।

विद्याधर का लक्षण —

"यस्मिन्नयनयोः साम्यं तुल्यप्राधान्यमिष्यते तदिदम् ।"

(७) काक्वाक्षिप्तम् —

मम्मट का लक्षण —

"वाच्यनिषेधसह भावेन स्थितिः काक्वाक्षिप्तम् ।"

विश्वनाथ का भी यही मत है ।

विद्याधर का लक्षण —

"आक्षिप्तं यत् काक्वाक्षिप्तं तदाख्यातम् ।"

(८) असुन्दरम् —

यत्र व्यंग्यप्रतीतावपि व्यंग्यमनपेक्ष्यैव वाच्यस्य वाच्ये एव चमत्कारविश्रामः तत्र वाच्यस्यैव प्राधान्येन तात्पर्यविषयत्वं भवतीत्यसुन्दरं काव्यम् ।" इति मम्मटः ।

"यत्र व्यंग्यात् वाच्यस्य चमत्कारः सहृदय संवेद्यः तत्रासुन्दरमिति" विश्वनाथः ।

"यद्भजति न सौन्दर्यं तदसुन्दरमिति ईरितं सद्भिः" इति विद्याधरः ।

—:o:—

डॉ० यतीन्द्रविमल चौधरी के नाटकों में अर्थोपक्षेपक

सीमा जैन

कनिष्ठ अनुसंधान अध्येता (यू० जी० सी०)

मु० ला० ज० ना० खे० गर्ल्स कालेज, सहारनपुर

भास से लेकर आज तक संस्कृत नाटक लेखन की एक सुदीर्घ, सुदृढ़ तथा अनवरत परम्परा रही है। बीसवीं शताब्दी के नाटककार डॉ० यतीन्द्रविमल चौधरी इसी परम्परा के कुशल वाहक हैं। इनका विशेष महत्त्व इसलिये है कि इन्होंने संस्कृत भाषा को लोकप्रिय बनाने के लिये ही नाटकों की रचना की। उस समय दूरदर्शनादि के अभाव में सम्प्रेषणीयता का सर्वश्रेष्ठ साधन अभिनय ही था। अतः यतीन्द्रविमल ने १९४३ ई० में स्वयं 'प्राच्यवाणी संस्कृत नाट्य परिषद्' की स्थापना की।[१] वर्ष १९४४ ई० से इस संस्था ने प्राचीन प्रसिद्ध नाटकों का, यथा—प्रतिमा, उरुभङ्गम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मृच्छकटिकम्, वेणीसंहारम् आदि का अभिनय प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया।[२] बाद में इसके साथ ही संस्थापक ने स्वयं नाटक रचना कर उनका अभिनय भी कराना प्रारम्भ कर दिया. इतना ही नहीं प्रारम्भ में एक-दो नाटकों का मञ्चन कराने वाली यह संस्था १९५७ ई० से धीरे-धीरे बढ़ाते हुये १९६३ तक वर्ष में पच्चीस नाटक तक आयोजित करने लगी। नाटकों के दर्शकों की संख्या हजारों में होती थी और एक बार यह संख्या बीस हजार तक पहुंच गयी।[३] यहाँ तक कि अनेक बार स्थान न होने पर दर्शकों को लौटना भी पड़ता था, परन्तु एक बार तो दर्शक लौटे नहीं अपितु भीतर स्थान न होने पर लाउडस्पीकर पर नाटक का प्रसारण सुनने हेतु मार्ग पर ही खड़े रहे।[४] इसके अतिरिक्त 'अखिल भारतीय आकाशवाणी, कलकत्ता' केन्द्र पर भी अनेक बार इनके नाटकों का प्रसारण किया गया।[५] नाटककार के मञ्चीकरण-प्रेम का ही परिणाम है 'प्राच्यवाणी' का अपना मुद्रणालय होते हुये भी उनके तीस संस्कृत एवं एक

---

१. देश-दीपम्, डॉ० रमा चौधरी, Blessings, डॉ० सातकड़ी मुखर्जी
२. Sanskrit Dramas Staged by Pracya Vani, p. 3
३. शक्ति शारदम्, डॉ० यतीन्द्रविमल चौधरी, Author's Note
४. Amrita Bazar Patrika, Calcutta, Friday July 25, 1958, Sanskrit Drama Staged
५. Sanskrit Dramas Staged by Pracya Vani, p. 15

प्राकृत भाषा के नाटकों में से केवल ग्यारह संस्कृत नाटक ही प्रकाशित हो पाये हैं तथा शेष अब पाठक-वृन्द को उपलब्ध ही नहीं हैं।

डॉ० यतीन्द्रविमल ने विविध क्षेत्रों के महापुरुषों, स्त्रियों, अवतारों तथा उनकी लीलासङ्गिनियों को आधार बनाकर नाटक लिखे, यथा—भारत-हृदयारविन्दम्, भारत-जनकम्, भारत-विवेकम्, महाप्रभु-हरिदासम्, भारत-लक्ष्मी, निष्किञ्चन-यशोधरम्, आनन्द-राधम् आदि। प्रस्तुत पत्र में निष्किञ्चन-यशोधरम्, शक्ति-शारदम्, भारत हृदयारविन्दम् एवं आनन्दराधम् इन चार नाटकों में प्रयुक्त अर्थोपक्षेपकों को ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत नाटकों में यतीन्द्रविमल ने भारतीय नाट्यशास्त्रियों द्वारा सूच्य कथांश के लिये मान्य पाँच अर्थोपक्षेपकों—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य तथा अङ्कावतार[1] में से केवल एक 'विष्कम्भक' नामक अर्थोपक्षेपक का प्रयोग किया है। इन विष्कम्भकों पर विचार करने से पूर्व उसके शास्त्र-सम्मत स्वरूप पर दृष्टिपात करना अपेक्षित है। 'अङ्क के अयोग्य, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के कथाभाग को (आवश्यकतानुसार) सूचित करने वाला, मध्यम पात्रों और संस्कृत भाषा वाला विष्कम्भक होता है।[2] रामचन्द्र-गुणचन्द्र इसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ बताते हैं—'स्मृति द्वारा कथाभाग को जोड़कर पुष्ट बनाने वाला विष्कम्भक कहलाता है।'[3] इसका उद्देश्य नाटक के अङ्कों अर्थात् दो अङ्कों के कथानक को जोड़ना बताते हैं।[4] विष्कम्भक के दो भेद—एक या अनेक मध्यम पात्रों से युक्त 'शुद्ध' तथा मध्यम और नीच पात्रों वाला 'मिश्र विष्कम्भक' होते हैं।[5]

यतीन्द्रविमल ने यद्यपि प्रायः भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्पराओं को ग्रहण कर नाटक लिखे हैं तथापि उन्होंने युगानुरूप और अभिनय के लिये आवश्यक अनेक तत्त्वों को पाश्चात्य नाट्यशास्त्र से भी ले लिया है। इसी क्रम में उनके

---

१. अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥
दशरूपकम्, १, ५८

२. अङ्कानर्हस्य वृत्तस्य त्रिकालस्यानुरंजिना।
संक्षिप्य संस्कृतेनोक्तिः अङ्कादौ मध्यमैर्जनैः ॥
नाट्यदर्पण, १, २३

३ विष्कम्भनाति अनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भयति इति विष्कम्भकः।
वही, १, २४, वृत्ति भाग

४. अङ्कयोरङ्कार्थयो सन्धायकः पुरङ्कद्वयान्तरालभावी।
वही, १, २४, वृत्ति भाग

५. भाव प्रकाशन, ७, २२०–२२१

अर्थोपक्षेपक भी आते हैं। अतः प्रस्तुत विष्कम्भकों को 'वृन्दगान' के परिप्रेक्ष्य में भी देखना आवश्यक है, क्योंकि विद्वानों द्वारा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के 'वृन्दगान' को भारतीय नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त 'विष्कम्भक' के समान ही माना गया है—'जहाँ तक वृन्दगान का प्रश्न है उसकी तुलना विष्कम्भक से कर सकते हैं।'[1] वृन्दगान का उद्देश्य है 'अनभिनीत प्रसङ्गों की सूचना।'[2] चरित्रों के भाग्य के प्रति दर्शकों की सहानुभूति जगाना तथा नाटक के अभिनय द्वारा जगाये गये नैतिक तथा धार्मिक भावों को अङ्कों के मध्य में प्रकट करना और अकेले व्यक्ति का घटनाओं की व्याख्या करना वृन्दगान कहलाता है।[3] इसका सङ्गीत से घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुये कहा गया है कि 'मान्य गायकों का सङ्गीतात्मक लेख तथा गान जो गायन द्वारा दर्शकों को नाटक से जोड़ देता है।'[4] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विष्कम्भक तथा वृन्दगान—इन दोनों का उद्देश्य समान है—अनभिनेय परन्तु कथा के तारतम्य को बनाये रखने हेतु आवश्यक घटनाओं की सूचना देना। साथ ही इनमें विषमता भी है—जहाँ विष्कम्भक के शुद्ध और सङ्कीर्ण दो भेद किये गये हैं, वहीं वृन्दगान इससे मुक्त है तथा वृन्दगान की सङ्गीतबहुलता को विष्कम्भक में ग्रहण नहीं किया गया है। इस विवेचन के उपरान्त यतीन्द्रविमल द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भकों के विश्लेषण का अवसर है।

'निष्किञ्चन-यशोधरम्' नाटक में केवल एक विष्कम्भक चतुर्थ अंक से पूर्व प्रयुक्त हुआ है। इसमें 'सर्पजिह्व' नामक विषवैद्य तथा 'मर्कटमुख' मदारी रूपधारी राजा शुद्धोदन के महामन्त्री के गुप्तचरों के वार्तालाप के माध्यम से यशोधरा के अपने पुत्र को सात वर्ष की अल्पायु में संन्यास दिलाने की पूर्व योजना का आभास मिलता है। महामन्त्री की यशोधरा के राज्य संभालने के विषय में शंका तथा देवदत्त की दुष्टता के कारण चिन्तित होने के साथ ही राजनीति में फैले भ्रष्टाचार का ज्ञान एक गीत के माध्यम से होता है।[6]

शक्ति-सारदम्'[7] नाटक में तृतीय अङ्क और पंचम से पूर्व दो विष्कम्भकों

१. डॉ० गोरधन सिंह, अरस्तू और भरत के नाट्य तत्त्वों की तुलना, पृ० १०८
२. डॉ० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ० १०८
३. The Oxford English Dictonary, Vol. II p 384-385
४. वही, Vol II p 385
५. प्रस्तुत नाटक भगवान् बुद्ध और उनकी लीलासङ्गिनी यशोधरा के जीवन से सम्बन्धित है। जो 'प्राच्यवाणी' से १९६० में प्रकाशित हुआ।
६. निष्किञ्चन-यशोधरम्, ४, विष्कम्भक, पृ० ४८-५०
७. प्रस्तुत नाटक युगावतार रामकृष्ण परमहंस और सारदामणि के जीवन पर आधारित है। यह 'प्राच्यवाणी' द्वारा वर्ष १९६० में प्रकाशित हुआ।

की योजना की गयी है। प्रथम विष्कम्भक में 'धर्मप्राण' कृषक एवं 'केवलकृष्ण' मत्स्यजीवी के वार्तालाप से आश्विन से चैत्र माह के मध्य छः माह के अल्पकाल में ही नाटक के नायक रामकृष्ण परमहंस के अग्रज 'रामेश्वर' तथा नायिका सारदामणि के पिता की मृत्यु और स्वयं सारदामणि की रामकृष्ण के प्रभाव से असाध्य रोग से मुक्ति की सूचना मिलती है। यहीं ज्ञात होता है कि रामकृष्ण, को संसार से उदासीन होने के कारण उन्मत्त कहा जाने लगा है तथा रामकृष्ण के द्वारा सारदामणि के जगज्जननी होने की घोषणा कर दी गयी है। तदनन्तर अपनी माता के साथ दक्षिणेश्वर आयी सारदा को 'हृदय' (रामकृष्ण के भागिनेय) के द्वारा अपमानित करके निकालने और मानो इसी के दुष्परिणामस्वरूप हृदय को मन्दिर के पुजारी पद से पदच्युत कर उसके स्थान पर रामकृष्ण के भतीजे 'रामलाल' को नियुक्त किये जाने के साथ-साथ ज्ञात होता है कि सारदामणि 'शिवराम' तथा 'लक्ष्मी' के साथ, पुनः वहाँ (दक्षिणेश्वर) जायेंगी।[१] उपर्युक्त दो पृष्ठ के अल्पकाय विष्कम्भक से, अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं, जो कथानक को आगे बढ़ने में सहायता देती हैं।

पञ्चम अङ्क से पूर्व प्रयुक्त विष्कम्भक में 'ह्यारि' और 'मेरी' नाम वाले कठपुत्तलिका नर्तकों—छद्मवेशधारी पात्रों के गीत से तत्कालीन समाज में बढ़ते पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव, भाषा में अंग्रेजी शब्दों का बाहुल्य से प्रयोग, कतिपय सामाजिक स्खलन—नारी के अपमान आदि के बढ़ने का भी ज्ञान होता है। इसी विषकम्भक में दो अन्य पात्र 'द्वारिकानाथ सेन' नामक प्रधानकरणिक और उसके चाटुकार अमूल्य बाबू के कथोपकथन मे उनके पाश्चात्य सभ्यता के प्रति पक्षपात तथा रामकृष्ण के सर्वधर्म-समन्वय के सिद्धान्त एवं उनके समाज में व्याप्त प्रभाव के साथ-साथ उपर्युक्त पात्रों का उनके लिये विरोध भाव भी प्रकट होता है। तत्पश्चात् 'ह्यारि' तथा 'मेरी' के श्लेषमूलक सङ्गीत के द्वारा अंग्रेज़परस्तों और उनके चापलूसों के प्रति भारतीयों के द्वेष का ज्ञान होता है। यहीं इन अंग्रेजी सभ्यता में रंगे भारतीयों के नैतिक, चारित्रिक पतन का कटु अनुभव होता है।[२]

स्वतन्त्रता सेनानी, महान् योगी, क्रान्त द्रष्टा श्री अरविन्द के जीवन-चरित से सम्बन्धित 'भारत-हृदयारविन्दम्'[३] नाटक में चतुर्थ अङ्क के तृतीय दृश्य से पूर्व विष्कम्भक को रखा गया है। नाटक के नायक श्री अरविन्द के आचार-व्यवहार पर दृष्टि रखने के लिये नियुक्त किये गये 'राधाएकबाल' एव 'श्यामसोहाग' नामक गुप्तचरों के संवाद से श्री अरविन्द और भगिनी निवेदिता के देश प्रेम, अलीपुर जेल में अधर्म के नाश हेतु कृष्ण के अरविन्द को अपना प्रतिनिधि नियुक्त करने और

१. शक्ति-सारदम्, ३, विष्कम्भक, पृ० १६-१७
२ शक्ति-सारदम्, ५, विष्कम्भक, पृ० ३०-३६
३. यह नाटक प्राच्यवाणी द्वारा वर्ष १९६० में प्रकाशित किया गया था।

सम्भवतः इसी कारण कारावास-मुक्ति के पश्चात् 'उत्तरपाड़ा भाषण' से उनके सहस्रों श्रोताओं को मुग्ध कर देने का ज्ञान होता है। यहीं ये दोनों पात्र देशभक्ति तथा दार्शनिकता से पूर्ण वार्तालाप करते हैं। इसके पश्चात् एक भक्त गायक आकर मातृ-भक्तियुक्त गीत गाता है तथा देश में मातृ सङ्गीत की स्वतन्त्रता को ही अपना परम सौभाग्य मानता है। इसके लिये पारितोषिक ग्रहण करना भी उसे मातृसङ्गीत का विक्रय प्रतीत होता है।[1]

'आनन्द-राधम्'[2] नाटक में दो विष्कम्भकों का आयोजन प्रथम—तृतीय तथा द्वितीय—अष्टम अङ्क से पूर्व किया गया है। प्रथम विष्कम्भक में 'सुबल' तथा 'मधुमङ्गल' नामक कृष्ण के बालसखा—सामान्य नागरिकों के वार्तालाप से श्रीकृष्ण के राधा के सङ्केतस्थल पर न जाकर 'चन्द्रावली' के कुञ्ज में जाने एवं कृष्ण के विरह में राधा के दुःखी होने की सूचना मिलती है।[3]

द्वितीय—अष्टम अङ्क से पूर्व प्रयुक्त विष्कम्भक में 'राधापद' रजक और 'कृष्णकर' नापित के माध्यम से कृष्ण के मथुरा आकर कुब्जा का कुब्ज दूर करने, कंस के राजरजक का वध करने, साथ ही नागरिकों के कंस के प्रति द्वेष तथा राजकर्मचारियों द्वारा सामान्य नागरिकों पर व्यर्थ भी आतङ्क फैलाने का ज्ञान होता है।[4]

प्रस्तुत विष्कम्भकों में से अनेक विष्कम्भकों का नाटकों की कथावस्तु के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये कथानक की आवश्यक, अपरिहार्य परन्तु अङ्कों में अप्रयोज्य घटनाओं की सूचना देकर वस्तु के तारतम्य को बनाये रखते हैं, यथा—'निष्किञ्चन-यशोधरम्' के विष्कम्भक से तृतीय और चतुर्थ अङ्क के मध्य सात वर्ष का अन्तराल व्यतीत होने की सूचना मिलती है तो 'शक्ति-सारदम्' के तृतीय अङ्क के विष्कम्भक से छः माह की अल्पावधि में नायक रामकृष्ण और नायिका सारदामणि के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की सूचना मिलती है, जिससे कथानक का नैरन्तर्य बना रहता है। 'भारत-हृदयारविन्दम्' के विष्कम्भक से जनसामान्य का मातृभूमि के प्रति प्रेम उसे स्वतन्त्र कराने की उत्कट अभिलाषा के साथ-साथ श्री अरविन्द के प्रति विशेष श्रद्धाभाव प्रकट होता है। इसी प्रकार 'आनन्द-राधम्' के अष्टम अङ्क के विष्कम्भक से कृष्ण के मथुरा आकर अनेक ऐतिहासिक कार्य करने का ज्ञान होता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन सभी विष्कम्भकों का कथानक को पुष्ट बनाकर आगे बढ़ाने में विशेष योगदान है।

---

१. भारत-हृदयारविन्द, ४, ३, विष्कम्भक, पृ० ३६-३८
२. 'आनन्द-राधम्' राधा कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित नाटक है, जो १९६२ में 'प्राच्यवाणी' द्वारा प्रकाशित हुआ था।
३. आनन्द-राधम्, ३, विष्कम्भक, पृ० ३७-३८
४. वही, ८, विष्कम्भक, पृ० ८५-८६

इन विष्कम्भकों में मध्यम एवं अधम दोनों श्रेणियों के पात्रों का प्रयोग किया गया है। 'निष्किञ्चन-यशोधरम्' के विष्कम्भक में 'सर्पजिह्व' विषवैद्य और 'मर्कटमुख' मदारी तथा देवदत्त के साथी 'सगरदत्त' और 'तिष्य' चारों ही निम्न कोटि के पात्र हैं। इसी प्रकार 'शक्ति-सारदम्' के तृतीय अङ्क से पूर्व प्रयुक्त विषकम्भक में 'धर्म-प्राण' कृषक, केवलकृष्ण' मत्स्यजीवी, पञ्चम अङ्क के पूर्व के विष्कम्भक में 'ह्यारि', 'मेरी' पुत्तलिका नर्तक, 'द्वारिकानाथ' प्रधान करणिक एवं उसका चाटुकार 'अमूल्य' सभी अधम कोटि के पात्र हैं। 'भारत-हृदयारविन्दम्' के विष्कम्भक के दो गुप्तचर, एक भक्तगायक और 'आनन्द-राधम्' में अष्टम अङ्क मे पूर्व प्रयुक्त विष्कम्भक के 'राधापद' रजक और 'कृष्णकर' नापित तथा राजकर्मचारी सभी निम्न श्रेणी के पात्र हैं। इस दृष्टि से ये सभी विष्कम्भक 'प्रवेशक' कहलाने योग्य हैं क्योंकि अधम पात्रयुक्तता प्रवेशक की विशेषता है।[१] विषकम्भक की नहीं। विषकम्भक में तो मध्यम अथवा मध्यम तथा अधम दोनों श्रेणियों के पात्र प्रयुक्त होते हैं।[२] परन्तु भाषा की दृष्टि से ये विष्कम्भक हैं क्योंकि नाट्यशास्त्रियों ने विष्कम्भक के लिये ही संस्कृत भाषा का निर्देश किया है[३] और उपर्युक्त सभी विष्कम्भक संस्कृत से युक्त हैं। मात्र 'आनन्द-राधम्' के तृतीय अङ्क से पूर्व प्रयुक्त विष्कम्भक में मधुमङ्गल और सुबल कृष्ण के बालसखा मध्यम कोटि के पात्र हैं और संस्कृत का प्रयोग करते हैं। अत: केवल यही एक विष्कम्भक शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध विष्कम्भक है।

पात्रों की श्रेणी के आधार पर इन सभी विष्कम्भकों में प्राकृत भाषा का प्रयोग शास्त्रीय दृष्टि से उचित है क्योंकि इनमें प्रयुक्त नीच पात्रों के लिये इसी का निर्धारण किया गया है।[४] परन्तु यतीन्द्रविमल केवल लीक पकड़ कर चलने वाले नहीं अपितु स्वयं अपने लिये रास्ता बनाने वाले नाटककार थे, उन्होंने शास्त्रीय नियम की पूर्णतया उपेक्षा करते हुए सभी पात्रों से समान रूप से संस्कृत का प्रयोग कराया है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि यतीन्द्रविमल ने स्वयं लिखा है— "मेरे जीवन का उद्देश्य भारत में सभी वर्गों के समस्त लोगों में संस्कृत को लोकप्रिय बनाना है।[५] प्राकृत भाषा को त्याग कर सभी पात्रों के संस्कृत भाषा का प्रयोग करने से सर्वप्रथम तो नाटककार पर वचन और कर्म के विरोध का दोष नहीं लगता कि 'एक ओर तो वह संस्कृत को सर्वत्र लोकप्रिय बनाने की बात करता है, दूसरी ओर वर्ग-विशेष को ही उसके प्रयोग की अनुमति देता है सभी को नहीं।' साथ ही

---

१. प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजित:। साहित्यदर्पण, ६, ५७
२. एकानेककृत: शुद्ध: सङ्कीर्णो नीचमध्यमै:। दशरूपकम्, , १६०
३. संस्कृतेनोक्ति:। नाट्य दर्पण, १, २३
४. नीचे मत्ते सन्निङ्गे च प्राकृतं पाठ्यमिष्यते। नाट्यशास्त्रम्, १७, ३६
५. आनन्द राधम्, Preface, P. 4

सर्वं समानता और संस्कृत भाषा के सर्व प्रयोक्तव्य होने का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत हुआ है । इस प्रकार स्पष्ट है कि यतीन्द्रविमल का यह कार्य शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध न होने पर भी युग और नाटककार के दृष्टिकोण के अनुकूल है । इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा के प्रयोग से दर्शकों के समक्ष उसके समझने की भी कठिनाई उत्पन्न होती, जिससे सम्प्रेषणीयता में बाधा पड़ती ।

उपर्युक्त विष्कम्भकों की एक विशेषता है—इनकी सरल तथा व्यावहारिक शब्दों से युक्त संस्कृत । इसके लिये नाटककार ने अन्य भाषाओं के भी व्यवहार बहुल शब्दों का प्रयोग कर लिया है, यथा—अंग्रेजी के 'बल' नृत्यं, डार्लिंग, मिष्टार, कोंट, प्याण्टं, ककटेल आदि ।[1] इसी प्रकार व्यावहारिक वार्तालाप में प्रयुक्त होने वाले सहज सुबोध छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग—

राधापद: । सत्यम् तदवसरेऽस्मिन् भीमवेगेनाहं पलाये ।

कृष्णकर: । तथाऽहमपि ।[2]

इतना ही नहीं दैनन्दिन प्रयोग की अनेक कहावतें भी इनमें रखी गयी हैं, यथा—'य: पलायते स जीवति' ।[3] तथा 'असज्ननेन असज्जनस्य संयोग: सहजबोध्य'[4] आदि । इसके साथ ही 'खीचिरमिचिराभ्यासा'[5] ('कोलाहल के अभ्यासी के लिये) जैसे बङ्गला भाषा के शब्द भी आ गये हैं ।

विष्कम्भकों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है पात्रों के नाम । कथानकों के ऐतिहासिक होते हुए भी प्राय: सभी पात्रों के नाम काल्पनिक हैं । भिन्न-भिन्न परिस्थितियों आदि को सूचित करने के लिये नाटककार ने पात्रों के वैविध्यपूर्ण नामों की कल्पना उन्हीं के अनुरूप कर ली है, यथा—भारतीय समाज की दशा चित्रित करने हेतु मर्कटमुख, सर्पजिह्व, राधाएकबाल, श्यामसोहाग आदि पात्र हैं तो समाज में अंग्रेजी प्रभाव का चित्रण करने के लिये पाश्चात्य नामों वाले ह्यारि और मेरी हैं एवं कृष्णकालीन समाज को चित्रित करने हेतु कृष्णकर और राधापद पात्र प्रयुक्त हुये हैं । साथ ही पात्रों के नाम लम्बे तथा कष्टसाध्य होने पर भी अर्थसाध्य हैं । मदारी का नाम मर्कटमुख, विषवैद्य का सर्पजिह्व, कंस के दूत और कृष्ण के भक्त का कृष्णकर नाम इसका प्रमाण हैं ।

उपर्युक्त विशेषताओं के होने पर भी विष्कम्भकों के प्रयोग में यतीन्द्रविमल का यह स्खलन प्रतीत होता है कि उन्होंने भारतीय नाट्यशास्त्रियों द्वारा कहे गये नीरस, अनुचित एवं संक्षिप्त कथांश के सूचक रूप विशेषणों को कुछ

---

१. शक्ति-सारदम्, ५, विष्कम्भक, पृ० ३०-३२
२. आनन्द-राधम्, ८, विष्कम्भक, पृ० ८६
३. शक्ति-सारदम्, ५, विष्कम्भक, पृ० ३६
४. आनन्द-राधम्, ८, विष्कम्भक, पृ० ८७
५. निष्किञ्चन-यशोधरम्, ४, विष्कम्भक, पृ० ४६

विष्कम्भकों में विस्मृत कर दिया है । इसी का परिणाम है कि 'आनन्दराधम्' का एक विष्कम्भक पाँच पृष्ठों के विस्तृत कलेवर वाला है तो 'शक्ति-सारदम्' का एक विष्कम्भक सात पृष्ठों तक विस्तीर्ण है यह स्वयं में, पूर्णतया स्वतन्त्र, नाटक से पृथक् रूप में प्रतीत होता है और कथानक में व्यवधान भी प्रस्तुत कर देता है। ये दीनों विष्कम्भक हास्य-व्यङ्ग्य से युक्त सरस रूप में पात्रों के अभिनय के द्वारा, श्लेषमूलक गीतादि के माध्यम से समाज की राजनीतिक, सामाजिक परिस्थिति, यथा—राजकर्मचारियों एवं अंग्रेजपरस्तों तथा उनके चाटुकारों का व्यर्थ ही सब पर रौब गाँठना तथा समाज में बढ़ते अंग्रेजी प्रभाव आदि के साथ ही भारतीय नागरिकों के उनके प्रति द्वेष तथा अवहेलना का चित्रण करते हैं। विष्कम्भक तो नीरस, अनभिनेय घटनाओं की संक्षेप में सूचना देने वाला, इसमें रस तथा अभिनय के लिये स्थान नहीं होता । सामाजिक परिस्थिति का चित्रण यद्यपि नाटककार का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है, परन्तु इसका साधन विष्कम्भक नहीं अङ्क होता है, यतीन्द्रविमल ने यह कार्य विष्कम्भकों द्वारा कराया है। इसके अतिरिक्त अङ्क के मध्य में विष्कम्भक का प्रयोग भी शास्त्रीय दृष्टि से उचित नहीं है जैसा कि 'भारत-हृदयारविन्दम्' नाटक में किया गया है क्योंकि भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने विष्कम्भक का प्रयोग अङ्क के आदि[1] में या अङ्कों के मध्य में[2] करने का विधान किया है । यहाँ पर स्मरणीय है कि संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने नाटक का विभाजन दृश्यों में न करके केवल अङ्कों में ही किया था परन्तु आधुनिक हिन्दी के तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों ने नाटकों को दृश्यों में बाँटना उचित बताया है अतः यतीन्द्रविमल भी इन सबसे प्रभावित हुये और अपने नाटकों को अङ्कों के साथ-साथ दृश्यों में भी विभक्त किया । एक ही अङ्क 'भारत-हृदयारविन्दम्' के चतुर्थ अङ्क के द्वितीय तथा तृतीय दृश्यों के मध्य के प्रायः एक वर्ष के अन्तराल को सूचित करने हेतु उन्होंने यहाँ विष्कम्भक को रखा जो आधुनिक युग की माँग तथा कथानक के पूर्णतया अनुकूल है।

इसी प्रकार यतीन्द्रविमल ने संस्कृत नाट्यशास्त्रियों द्वारा विष्कम्भक के लक्षणों के साथ-साथ पाश्चात्य वृन्दगान की सङ्गीतप्रधानता को भी इनमें मुख्य स्थान दिया है । 'निष्किञ्चन-यशोधरम्' का 'मर्कटमुख' द्वारा प्रयुक्त गीत समाज

१. अङ्कादौ । नाट्य दर्पण, १, २३

२. अङ्कद्वयान्तरालभावी । वही, १, २३; वृत्तिभाग

में बढ़ते भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि का चित्रण करता है।[1] इसी प्रकार 'शक्ति-सारदम्' के पञ्चम अङ्क के विष्कम्भक में ह्यारि एवं मेरी के युगलगीत में समाज के बढ़ते पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव, भाषा में अंग्रेजी शब्दों के बहुतायत से प्रयोग के साथ ही भारतीयों की अंग्रेजपरस्तों के प्रति उपहासपूर्ण भावना का चित्रण किया गया है[2] तो 'भारत हृदयारविन्दम्' में भक्तगायक के गीत के माध्यम

---

१ अहो जीव वृक्षचर कलिप्रिय।
विक्रम ते प्रकाशय झम्पे झम्पे हासय
....

स्वमुखानि यथा दहन्ति राज्यसुखं तथा घ्नन्ति
विधानपर्षदि भाषणषण्डा: ।।
....

परद्रुमकाण्डनाशा: खोचिरमिचिराभ्यासा:
राजन्ते शतोत्कोचदासा: ।।
....

जगति नरकुलपुङ्गवा मृषाभाषणपाटवा
नाशयन्ति धर्मं मलिनधिय: ।।
याहि विषवैद्यं संभासय ।।

निष्किञ्चन-यशोधरम्, ४, विष्कम्भक, ५४-५७, पृ० ४६

२. ह्यारि: । पश्य प्रिये मेरी नवयुगवटनम् ।
अहो रम्या नवीनरीति: मधुर-हास-कास-पद्धति:
प्राय: पतद्धूम्रवर्ति-कृष्ण-वदनम् ।।
....

मेरी । दारलीन (Darling) पथिमध्ये घटतां बाहुग्रहणम् ।
गृहमध्ये भवतु नाम कटुवाक्य संस्मरणम् ।।
....

ह्यारि: दारलीन ! पथि पथि पथि नारीविघूर्णनम् ।
ऊनविंश-शताब्द्या: सविशेषवटनम् ।।

शक्ति-सारदम्, ५, विष्कम्भक, ५६-६१, पृ० ३०

व्यङ्ग्यराज धराधार परभूषासुसज्जक ।
पटुभाष महाप्राण पर भृच्छाव पालक ।।
विलायत-प्रमोदिन् भो विदग्धाननशोभक
कलिप्रिय चिरंजीव स्वकार्योद्धारसाधक ।।

वही, ५, विष्कम्भक, ६४-६५, पृ० ३४

से जनसाधारण का भारतमाता एवं भारत के कण-कण के प्रति श्रद्धा और प्रेम प्रकट हो रहा है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यतीन्द्रविमल ने केवल प्राचीन संस्कृत नाट्य-परम्पराओं का अक्षरशः पालन न करके उनका अपने नाटकों की आवश्यकतानुसार तथा युगानुरूप यथासम्भव पालन करते हुये 'विष्कम्भकों' का प्रयोग किया है तथा आवश्यकता होने पर परिवर्तन-परिवर्द्धन एवं उल्लंघन भी किया है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य 'वृन्दगान' की विशेषताओं को भी आवश्यक होने पर ग्रहण कर लिया है। इसी का परिणाम है कि उनके नाटक-नाटक के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य सम्प्रेषणीयता, अभिनेयता को प्राप्त करने में सफल हुये और नाटककार की 'संस्कृत को सर्वबोध्य तथा लोकप्रिय बनाने की' साध पूरी हुई। विभिन्न स्थानों पर उनके विभिन्न नाटकों का समय-समय पर होने वाला मञ्चन इसका स्पष्ट प्रमाण है, जिसमें दर्शक तीन-तीन घण्टे तक सूचीभेद्य सन्नाटे में नाटकों को देखते हुये बिना हिले-डुले बैठे रहते थे।

—:o:—

१. जननी मे भारतभूमिः।
प्रतिधूलिकणं पुण्यप्रवहना
शान्ति-सुख-सुधां सतत ददाना
युगयुगान्त-प्रेम जीवना
हृदि यस्या अन्तर्यामी।
पुनातु मां भारतभूमिः॥

भारत-हृदयारविन्दम्, ४, ३, विष्कम्भकं, ७९, पृ० ३९

वसन्तविलासमहाकाव्यस्यैतिह्यम्

डा० केशवप्रसाद गुप्तः
चरवा, प्रयागः २१२२०३

वसन्तविला महाकाव्यं जैनसंस्कृतवाङ्मयस्य सर्वेस्वै-ह्यमहाकाव्येस्वति-सुरम्यं सारगर्भितं महत्वपूर्णञ्चास्ति । प्रणेतास्य कविवरबालचन्द्रसूरिः । काव्यनाय-कस्य वस्तुपालमृत्यूपरान्ते तत्पुत्रस्य जैत्रसिंहस्यानुरोधेन विरचितं तेन महाकाव्य-मिदम् ।[1] चतुर्दशसर्गोपेतं वसन्तविलासमहाकाव्यं त्रयादशशताब्द्यां मूलतः ताडपत्रेषू-ल्लिखितमासीत् ।[2] नायकवस्तुपालस्यापरनाम वसन्तं वसन्तपालं वाभिलक्ष्यास्य महाकाव्यस्य नाम वसन्तविलासं बभूव । महाकाव्येऽस्मिन् यद्यपि चौलुक्यवंशीयनृपति-वीर धवलस्य महामात्यवस्तुपालस्य चरित्रवर्णनमस्ति परन्तु गूर्जरप्रदेशस्य मध्यका-लीनेतिहासज्ञानार्थं विविधसामग्री प्रस्तौति महाकाव्यमिदम् । महाकाव्यास्यैतिह्यत-थ्यानां सम्यक्निरुपणमधोलिखित विधया समुचिततरं भविष्यति ।

१. आदिपुरुषचौलुक्यस्योत्पत्तिः

चौलुक्यशब्दः चालुक्यशब्दस्यैव सस्कृतरूपमस्ति । सम्बोधनोऽयमद्यापि गुजरातप्रान्तस्य सोलकीक्षत्रियाणां कृते प्रयुज्यते । वंशस्यास्य समुत्पत्तिविषये वसन्त-विलासमहाकाव्ये स्पष्टोल्लेखमस्ति यत्—

कश्चित्पुरादानवदूनविश्वत्राणाय नारायणवत्पयोधेः ।
स्वयम्भुसन्ध्याचुलुकादुदस्थाद्वीरो विकोशासिविहस्तहस्तः ॥[3]

महाकाव्यस्योपर्युक्तश्लोके चौलुक्यानामादिपुरुष्योत्पत्तिः ब्रह्मणः सन्ध्याकालीन चुलुकजलादेव स्वीकृतः ।

चौलुक्यानामुत्पत्तिविषयकोऽयं सिद्धान्तः विल्हणकविकृतविक्रमाङ्कदेवचरितस्य चुलुकसिद्धान्तमेव स्मारयति ।[4] कुमारपालस्य वड़नगरप्रशस्ति[5]-द्वयाश्रयकाव्य[6]प्रबन्ध-

१. श्रीजैत्रसिंहस्य मनोविनोदकृते काव्यमिदमुदीर्यते ह ।
वसन्तविलासमहाकाव्यम्, १।७५

२. तदेव, भूमिकाभागः, पृ० १६

३. तदेव, ३।१

४. पुरन्दरेण प्रतिपाद्यमानेव समाकर्ण्य वचो विरञ्चिः ।
सन्ध्याम्बुपूर्णे चुलुके मुमोच ध्यानानुविद्धानि विलोचनानि ॥
वि० दे० च०, १।४६

५. ⋯⋯नमस्यन्नपि निजचुलुके पुण्यगङ्गाम्बुपूर्णे ।
सद्योवीरं चुलुक्याह्वयमसृजामिदं येन कीर्त्तिप्रवाहैः ॥
वडनगरप्रशस्तिः, श्लोकः २-३

६. द्व्याश्रयकाव्यम्, श्लोकः २, पृ० ४

चिन्तामणि'प्रभृतिजैनग्रन्थैरपि सिद्धान्तस्यास्यैव भवति नाम परिपुष्टिः। यद्यपि पौराणिकपरम्परानुसारेण प्रतिपादितोऽयं सिद्धान्तः सत्यमेव, प्रतीयते, परञ्च शिलालेखीयप्रमाणानुसारेण चौलुक्यवंशीय शासकानां सम्बन्धः येन केन प्रकारेण चन्द्र-वंशेन सहावश्यमेवासीत्[2] पुरातत्त्वविद्भिरपि स्वीकृतमिदं 'यत् चन्द्रचौलुक्यवंशयोर्न कश्चिद् भेदः।

२. चौलुक्यवंशीयशासकाः

वसन्तविलासमहाकाव्यस्य तृतीयोसर्गः, ऐतिह्यदृष्ट्यातिमहत्त्वपूर्णोऽस्ति। सर्गेऽस्मिनणहिलवाडपाटनस्य सिंहासनारूढानां चौलुक्यवंशीयशासकानां संक्षिप्तपरि-चयोऽस्ति। यथा --

(१) आदिपुरुषचौलुक्येन संस्थापिते वंशेऽस्मिन् मूलराजोनामतिप्रभावशाली राजा बभूव। राजमुकुटशिरोमणिः स नृपतिः परमवीरः शत्रुसंहारकश्चासीत्। तस्य कीर्तिः चतुर्दिक्षु प्रसृता बभूव। राजासौ प्रतिसोमवासरे सोमेश्वरस्य तीर्थस्य यात्रामकरोत्।[3]

(२) तदनन्तरं तस्यात्मजः चामुण्डराजः सिंहासनस्थो बभूव। सोऽप्यति-पराक्रमी परमयशस्वी च राजासीत्। तेन स्वपराक्रमैरखिलशत्रुमण्डलः विनष्टो जातः।[4]

(३) तत्पश्चात् चामुण्डराजपुत्रः वल्लभराजः शासनसूत्रं दधार। सः 'जगज्झम्पन' इत्युपाधिना सुविश्रुतो बभूव। सोऽपि प्रचुरप्रतापसम्पन्नः शत्रूणां विनाशकश्चासीत्।

(४) चामुण्डराजस्योपरान्ते तस्यानुजः दुर्लभराजः राज्यभारं बभार। स तु धर्मक्षेत्रेऽतिशयगौरवं प्राप। तेन दुर्लभराजसरोवरस्य विनिर्माणमपि कारितः। तस्य चरित्रः समुज्ज्वलः धवला चासीत्कीर्त्तिः।[5]

(५) तदुपरान्ते भीमदेवः सत्तायाः प्रभुत्वं गृहाण। तेन वन्तिनरेशः भोजः रणाङ्गणे पराजितो जातः।[6]

(६) भीमदेवे दिवंगते तदात्मजः कर्णः शासको बभूव। सोऽतिविलासी परदारोपभोगी दुश्चरित्रश्चासीत्। सः सर्वदा स्वपत्नीं प्रति विमनस्कः आसीत्।[7]

१. मेरुतुङ्गाचार्यः, प्रबन्धचिन्तामणिः, पृ० १५
२. (i) इण्डियनऐन्टीक्वेरी, खण्ड— २१, पृ० १६७
(ii) कर्नाटक इन्सक्रिप्शन, खण्ड—१, पृ० ४१५
३. वसन्तविलासमहाकाव्यम्, ३/३-७
४. व० वि०, ३/८-६
५. तदेव, ३/१०-११
६. तदेव, ३/१२-१३
७. तदेव, ३/१४-१६
८. तदेव, ३/१७-२०

(७) तस्यात्मजः जयसिंहदेवः परमयशस्वी राजा बभूव । तेन धारानरेश युद्धभूमौ पराजितः । सः विजित्योज्जयिनीं योगिनीपीठं स्वनगरे प्रतिष्ठापयामास । सः स्वबाहुबलैः 'बर्बरक' इत्याख्यं वैतालमपि जित्वा सिद्धराजस्योपाधिं दधार ।[1]

(८) जयसिंहदेवस्योत्तराधिकरी कुमारपालोऽभवत् तेन केदारसोमेश्वरतीर्थयोः जीर्णोद्धारं कृतः । सः विविधविहाराणामपि निर्माणमकारयत् । बल्लाल-कोङ्कणजाङ्गलादिदेशानां राजानः तेन पराजिताः । तेनोत्तराधिकारविहीनजनानां सम्पत्यधिग्रह परित्यक्तः ।[2]

(९) कुमारपालानन्तरं शासनसत्तायाः स्वामी, अजयपालो बभूव । सः वैभवशालीव्यक्तित्वसम्पन्नः वीराणामग्रणी चासीत् । जङ्गलनरेशः तस्मै विशिष्टोपहारं ददौ ।[3]

(१०) अजयपालस्यात्मजः शिशुमूलराजः तदनन्तरं सिंहासनासीनो जातः । बाल्यावस्थायामेव तेन म्लेच्छराजा पराजितः । परन्तु दुर्दैवकारणादल्पावस्थायामेव सः दिवंगतः ।[4]

(११) शिशुमूलराजस्य मृत्यूपरान्ते तस्यानुजः भीमः (भीमद्वितीयः) शासनसत्तायाः स्वामिपदं सुशोभितवान् । परञ्च सः स्वप्रशासनिकाक्षमतया राज्यव्यवस्थासञ्चालनेऽसमर्थोऽभवत् । अतएव तस्य मण्डलीकाः राज्ये विद्रोहं हस्तक्षेपं च चक्रुः ।[5]

३. चौलुक्यवंशीयबघेलशाखायाः प्रभुत्वम्

वसन्तविलासमहाकाव्ये यद्यपि चौलुक्यानां बघेलशाखायाः सिंहासनेऽणहिलवाड़पाटनस्य राज्यारोहणकालः नास्ति सुनिश्चितः, परन्तु तेषामागमन कथमभूत, विषयेऽस्मिन् तत्र स्पष्टोल्लेखः विद्यते ।

भीमद्वितीयस्य मण्डलीकाः राज्ये विद्रोहमजनयन् । तान् निवारयितुं भीमोऽसमर्थो जातः । तस्मिन् काले चौलुक्यवंशीयधवलस्यात्मजः अर्णोराजः तेषां मण्डलीकानां दमनं कृत्वा भीमसाम्राज्यं ररक्ष ।[6]

तदुपरान्तेऽर्णोराजस्य पुत्रः लवणप्रसादः परमवीरोऽत्यन्तप्रतिभासम्पन्नो शासको बभूव । तस्य पराक्रमं श्रुत्वा सर्वे पार्श्ववर्त्तिनः राजानः भीताः बभूवुः । सः केरल-लाट-मालवान्ध्र-काञ्ची-कोङ्कण-जाङ्गल-पाण्ड्य-कुन्तल-वङ्ग-कलिङ्गप्रभृतिदेशानां शासकानामुपरि स्वप्रभुत्वं स्थापयामास ।[7]

---

१. तदेव, ३/२१-२३
२. व० वि०, ३/२४-३०
३. तदेव, ३/३१-३३
४. तदेव, ३/३४-३५
५. तदेव, ३/३६-३७
६. तदेव, ३/३८-४०
७. व० वि०, ३/४१-४५

लवणप्रसादस्यात्मजः राजावीरधवलो बभूव। सोऽपि परमपराक्रमी शूरवीरः शत्रुसंहारकश्चासीत्। सः स्वसाम्राज्येऽखिलविद्रोहिमण्डलीकान् दमनञ्चकार। सः सर्वदा स्वपित्रा लवणप्रसादेन सह भूभार बभार। कालान्तरं च महत्कीर्त्ति लब्धवान्।[1]

४. वस्तुपालस्य पूर्वजाः

एकदा चिन्तामग्नो राजावीरधवलः रात्रौ स्वप्ने राज्यलक्ष्मीं ददर्श।[2] सा तु वस्तुपालस्य पूर्वजानां परिचयं तत्समक्ष प्रास्तौत। तदनुसारेण पूर्वकाले सुप्रसिद्धे प्राग्वाटवंशे चाण्डपो नाम महापुरुषो बभूव।[3] तस्य पुत्र चण्डप्रसादः जिनदेव-प्रभावतः महत्कीर्त्ति समार्जितवान्।[4] चण्डप्रसादस्य तनयः सोमोऽभवत् यः सिद्ध-राजं स्वस्वामिनं सर्वस्वं चामन्यत्।[5] सोमस्यात्मजोऽश्वराजः बभूव। तेन स्वमात्रा सीतया सह शत्रुञ्जयतीर्थस्य सप्तबारं यात्राः कृताः। सः विविध-वापी-कूप-तडागा-नाञ्च विनिर्माणमकारयत्। तस्य पत्नी कुमारदेवी धर्मक्षेत्रेऽतिनिपुणासीत्। अश्व-राजस्य कुमारदेव्याश्च संसर्गादेव मल्लदेव-वस्तुपाल तेजपालाख्याः पुत्रत्रयाः बभूवुः। तेषां मध्ये मल्लदेवोऽल्पायुरेवासीत्। वस्तुपालतेजपालौ तु सर्वगुणसम्पन्नौ परि-पुष्टाङ्गौ वाक्कलाकुशलौ चास्ताम्।[6]

५. वस्तुपालतेजपालयोर्मन्त्रिपदे नियुक्तिः

राजावीरधवलः राज्यव्यवस्थासंचालनाय सुयोग्यमहामात्यस्य चयनार्थं चिन्ता-मग्नोऽऽसीत्। रात्रौ स्वप्ने समायाता राज्यलक्ष्मी वस्तुपालस्य पूर्वजानां परिचय दत्त्वा मन्त्रिपदे वस्तुपालतेजपालयोर्प्रतिष्ठापनार्थं परामर्श्य च तिरोहिता जाता।[7] प्रत्यूषे वीरधवलस्यादेशेन वस्तुपालतेजपालौ राजभवनमाजग्मतुः। वीरधवलः तयोर्योग्यता-कुलीनताव्यवहारकुशलतादिगुणैर्प्रभावितं भूत्वा मन्त्रिपदग्रहणार्थं तौ निवेदयामास। तस्मिन् काले वस्तुपालः राजानं प्रति लोलुपतान्यायाशान्तिप्रवञ्चनादि परित्यक्तुं

---

१. तदेव, ३ ४६-५०

२. स क्षोणिसुश्रोणिधवं स्वराज्यचिन्तायकं कञ्चन कर्त्तुकामः।
कदाचिदागत्य निशि प्रसुप्तः स्वप्ने समाभाष्यत राज्यलक्ष्म्या॥
—तदेव, ३·५१

३. तदेव, ३·५३

४ तदेव, ३ ५४

५. तदेव, ३·५५-५७

६. तदेव, ३·५८-६३

७. स्वप्नान्तरेतत्पुरतः क्षितीन्दोर्निवेद्य सा गूरराज्यर्जलक्ष्मीः।
यथागतं क्वापि जमाय सोऽपि निद्रां जहौ द्रागरविन्दनेत्र॥
व० वि०, ३·६५

समयं (नियमं) प्रास्तौत ।[१] स्वीकृते च समये भ्रातृयुगलौ मन्त्रिपदग्रहणार्थं स्वमन्तव्यं प्रकटीकृतौ । तस्मिन्नेवक्षणे वीरधवलः ससम्मानं तौ मन्त्रिपदे प्रतिष्ठापयामास ।[२]

६. वीरधवलेन लाटप्रदेस्याधिग्रहणम्

वसन्तविलासमहाकाव्यस्य चतुर्थेसर्गे वीरधवलेन लाटदेशस्यस्तम्भतीर्थोपरि स्वेच्छयाक्रम्य तस्याधिग्रहणमपि महाकविना बालचन्द्रसूरिणा वर्णितम् ।[३] सागरतटे स्थितः स्तम्भतीर्थः (Cambay) लाटदेशस्य प्रमुखः पत्तनोऽऽसीत । स वाणिज्य-दृष्टयातिसमृद्धः महत्त्वपूर्णश्चासीत् । वीरधवलः तस्मिन् प्रदेशे स्वकीयप्रभुत्वस्थापनार्थं तदुपरि क्षिप्रमाक्रम्य जित्वा च वस्तुपालं तस्य प्रदेशस्य मण्डलाधिपं (Governor) नियोजयामास ।[४]

तस्मिन् काले स्तम्भतीर्थ लाटदेशस्यैवाङ्गोऽऽसीत् । चाहमानवंशीयनृपतिः शङ्खः तत्र शास्ति स्म । वस्तुनस्तु वीरधवलस्याक्रमणकाले शङ्खः तत्रोपस्थितः नासीत् । देवगिरेः शासकेन यादवराजसिंहणेन सः पराजितं भूत्वा तस्य वन्दीगृहे निक्षिप्तः ।[५] शङ्खस्यास्मिन्नेवानुपस्थितिकाले वीरधवलः स्तम्भतीर्थस्योपरि स्वाधिकारं स्थापयामास । अस्मादेव कारणात्महाकविनाक्रमणस्यास्य प्रसङ्गे लेशमात्रमपि संघर्षस्योल्लेखः न कृतः ।

७. मारवाड़शासकैः सह लूणसाकनरेशस्य युद्धः

महाकाव्यस्य पञ्चमे सर्गेऽस्य युद्धस्योल्लेखोऽस्ति । युद्धेऽस्मिन् लूणसाकनरेशस्य सहायतार्थं वीरधवलोऽपि ससैन्यं रणाङ्गणं जगाम ।[६] तस्मिन् महत्संग्रामे

---

१. न्यायं यदि स्पृशसि लोभमपाकरोषि
कर्णेजपानपधिनोषि शमं तनोषि ।
सुस्वामिनस्तव धृतः शिरसा निदेश-
स्तन्नून मयकाऽपरथाऽस्तु भद्रम् ॥ तदेव, ३·८०

२. अजनि कनकमुद्रा साक्षरश्रेणिसान्द्रे
करसरसिजयुग्मे मन्त्रियुग्मस्य तस्य ।
इदमुपचितशालं गूर्जरक्षोणिलक्ष्मी-
कुलगृहमिति निन्ये शासने पट्टिकेव ॥ तदेव, ३·८२

३. एकदा वीरधवलः प्रसह्यामह्यविक्रमः ।
तद्विगृह्य समादत्त लङ्कामिव रघूद्वहः ॥ तदेव, ४·२४

४. तदेव, ४·२५

५. दूत ! रे तदिति जल्पसि नैतद्वन्धनानि यदयं समवाप ॥
व० वि०, ५·४३

६. लूणसाकनृपतेरथ साकं मारवैः समभवद्विगृहीतिः ।
तत्र वीरधवलोऽपि बलोपक्रान्तवैरिनिगमः स जगाम ॥ तदेव, ५·१५

सबलोऽपि वीरधवल: मारवाडशासकै: विक्षुब्धीकृत: ।[1] स्तम्भतीर्थस्य रक्षार्थं नियुक्त: वस्तुपाल: विषयेऽस्मिन् चिन्ताकुलोऽऽसीत् ।[2] कीर्त्तिकौमुदीमहाकाव्यस्यैकस्मिन् प्रसङ्गे वर्णितमस्ति यत् लूणासकनरेश: मारवाड़शासकै: सह सन्धिमकरोत् ।[3] कतिपयग्रन्थानुसारेण लूणसाकनरेश: राजावीरधवलस्य पिता लवणप्रसादरेवासीत् ।[4] अतएव तस्य पक्षमङ्गीकृत्य युद्धार्थं वीरधवलस्य तत्र गमनं समुचितमेवासीत् ।

८. वस्तुपालशङ्खयोर्मध्ये युद्ध:

महाकाव्यस्य पञ्चमे सर्गेऽस्य युद्धस्य सविस्तरं वर्णनमस्ति । यदा वीरधवल: लूणपाकनरेशपक्षमधिगृह्य मारवाडशासकै: सह योद्धुं जगाम तदैव लाटदेशाधिपति: शङ्ख: शुभावसरं प्राप्य स्तम्भतीर्थोपरि ससैन्यमाक्रमणञ्चकार ।[5] सर्वप्रथमं शङ्ख: वस्तुपालं प्रति दूतं प्रेषयामास । दूतस्तु वस्तुपालाय बहुविधप्रलोभनं ददौ परन्तु वस्तुपाल: सन्धिवार्तां नाङ्गीचकार ।[6] भग्नायां च वार्त्तायां युद्धारम्भो सुनिश्चितो जात: ।

युद्धस्यास्य प्रथमचरणे शङ्खस्यानेके सैनिका: कालकवलिता: सञ्जाता: । तदनन्तरं स्वबन्धुभि: सह शङ्ख: स्वयमेव युद्धभूमिं गत: । तैश्च वस्तुपालस्य वीरमादय: प्रमुखा: योद्धा: हता: ।[7] तस्मिन्नेव काले वस्तुपालस्य वीरसेनानायक: भुवनपाल: शङ्खवधाय प्रतिज्ञां कृत्वा युद्धभूमिं जगाम । परन्तु सोऽपि स्वयुद्धकलां प्रदर्शयन् वीरगतिं प्राप ।[8] तस्य मृत्योर्वार्तां निशम्य वस्तुपाल: विशालसेनया सह युद्धक्षेत्रं ययौ । दृष्ट्वा च तस्य शौर्यं सेनां च भयाकुल: शङ्ख: रणभूमिं परित्यज्य स्वराजधानीं भृगुकच्छं प्रति पलायित: ।[9] एवमेव महामात्यवस्तुपाल: युद्धेऽस्मिन् विजयश्रीं लब्धवान् ।

९. वस्तुपालस्योत्तरकालीनजीवनं मृत्युश्च

चाहमानशासकशङ्खस्योपरि विजयानन्तरं वस्तुपालस्य जीवनस्य प्रधानैति-

१. अद्य वीरधवल: सबलोऽपि त्वत्प्रभु: सुबहुभिर्मरुभूपै: ।
वेष्टित: खरमरीचिरिवाब्दैर्दृश्यतेऽपि न जय: क्व नु तस्य ।।
तदेव, ५ २४

२. तदेव, ५ ३७

३. कीर्त्तिकौमुदी, ४ ५५

४. डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, पोलेटिकल हिष्ट्री आफ नार्दन इण्डिया, फ्राम जैन सोर्सेज, पृ० ३०५

५ व० वि०, ५ १५ १६

६ तदेव, ५.२१-४९

७. तदेव, ५ ७४-९५

८. तदेव, ५ ९६-१०४

९ तदेव, ५ १०५-११०

हासिक घटना तस्य धार्मिकयात्रासीत्। अस्यां यात्रायां सः संघाधिपतिं भूत्वा ससंघेन शत्रुञ्जयपर्वते आदिनाथस्य[1], सोमतीर्थे सोमेश्वरस्य[2], गिरिनारपर्वते च नेमिनाथस्य[3] भव्यां यात्राञ्चकार। मार्गे चासौ सर्वेषां देवानां वन्दनं, मन्दिराणां च जीर्णोद्धारं तेषां साजसज्जास्वच्छतादिकार्यं यथाविधि सम्पादितवान्।[4] सः निर्धनेभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च बहुमूल्यवस्तूनि दत्त्वा सगौरवमलङ्कृतवान्।[5] एतत्प्रकारेण तस्योत्तरकालीनं जीवनं धर्मस्य प्रचारे प्रसारे च समर्पितमासीत्।

महाकाव्येऽस्मिन् प्रस्तुतं वस्तुपालस्य मृत्युवर्णनमपि कल्पनापरिपूर्णं सुरोचकं चास्ति। तदनुसारेण धर्मस्य दुहिता सद्गतिः तस्यालौकिककृत्यान् श्रुत्वा तं प्रत्यानुरक्ता बभूव। तस्याः पाणिग्रहणार्थं सः विक्रमाब्दे, १२९६, माघमासे, कृष्णपक्षे, पञ्चम्यां तिथौ, रविवासरे, प्रातःकाले शत्रुञ्जयपर्वतस्थिते जिनादिदेवादिनाथस्य समक्षं जगाम।[6] तस्मिन् शुभे लग्ने सः सद्गत्याः पाणिग्रहणञ्चकार। विवाहोपरान्ते सद्गत्या सह वस्तुपालः स्वर्गं ययौ। तत्रस्थाः सर्वे देवाः तस्य स्तुतिं चक्रुः।[7] वस्तुतः वस्तुपालस्य स्वर्गारोहणस्य तिथिरियं काव्येष्वन्येषु ग्रन्थेषु वा सुदुर्लभाः विद्यते।

१०. महाकाव्यस्यैतिह्यमहत्त्वं

वसन्तविलासमहाकाव्यस्य प्रणेता कविवरबालचन्द्रसूरिः काव्यनायकवस्तुपालस्य समसामयिकः कविरासीत्।[8] अतएव महाकाव्येऽस्मिन् वर्णिततथ्यानां सत्यतां प्रति लेशमात्रमपि नास्ति संदिग्धता। गुजरातप्रदेशस्य मध्यकालीनैतिहासिकं ज्ञानार्थं सर्वश्रेष्ठमस्ति महाकाव्यमिदम्।

महाकाव्येऽस्मिन् चौलुक्यवंशीयैकादशनृपतीनां कीर्तेः वीरतायाश्च यथाक्रमं सम्यक्विवेचनमस्ति। मुख्यकथाप्रसङ्गान्तराले वीरधवलेन लाटप्रदेशस्याधिग्रहणं,

---

१. तदेव, सर्गः १०
२. तदेव, सर्गः ११
३. तदेव, सर्गः १३
४. व० वि० १०.३४-३५
५. तदेव, ११.४२, १०.३८
६. वर्षे हर्षनिषण्णषण्णवतिके श्री विक्रमोर्वीभृतः
 कालाद्द्वादशसंख्यहायनशतात् मासेऽत्र माघाह्वये।
 पञ्चम्यां च तिथौ दिनादिसमये वारे च भानोस्तवो-
 द्वोढं सद्गतिमस्ति लग्नमसमं तत्त्वयंतां त्वयंताम्॥
 तदेव, १४.३७
७. तदेव, १४.५१-५३
८. डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल, पृ० ६०-६१

मारवाड़शासकैः सह लूणसाकनरेशस्य युद्धं, अन्ये च यथा—अम्बडेन कोङ्कणनरेशमल्लिकार्जुनस्य शिरच्छेदनम्[1], यादवराजसिंहणेन सह शङ्खस्य युद्धम्[2], इत्यैतिह्य तथ्याः समुद्घाटिताः सन्ति । महाकाव्यस्यान्तिमो सर्गः, यत्र वस्तुपालस्य मृत्युतिथिर्वर्णितमस्ति, एतिह्यदृष्ट्यातिमहत्त्वपूर्णोऽस्ति यतोहि-अस्याः घटनाया सुस्पष्टोल्लेखः न प्राप्यतेऽन्यत्र ।

वसन्तविलासमहाकाव्ये वर्णिताः सर्वेऽप्यैतिह्यतथ्याः सुकृतसंकीर्तन-कीर्त्ति-कौमुदी कुमारपाल चरित-वस्तुपालतेजः पालप्रशस्ति-प्रबन्ध चिन्तामणि-प्रबन्ध-कोशादि जैनग्रन्थैः, विभिन्नशिलालेखीय प्रमाणैश्च प्रमाणिताः सन्ति । वस्तुतः महामात्यवस्तुपालस्य जीवनं प्रतिलक्ष्य विविधकाव्यानां, महाकाव्यानां, स्तुति-काव्यानां, कथानां च रचनाः कृताः विद्वद्भिः । परन्तु किं बहुना, कविवरबालचन्द्रसूरिविरचितवसन्तविलासमहाकाव्ये या स्पष्टता, भव्यता, तथ्यानां च प्रामाणिकता विद्यते सा तु, अन्यत्र नास्ति, नास्ति ।

—:o:—

1. व० वि०, ९·४३

2. निर्मदामकृत यादवसेनां नर्मदाविपुलरोधसि शङ्खः ।
दूत ! रे तदिति जल्पसि नैतद्वन्दिनानि यदयं समवाप ॥ तदेव, ५·४९

वत्सराज प्रणीत रूपकों में युग बोध एवं काव्य शिल्प

डा० अनीता सिंघल
हाथरस

वत्सराज का स्थितिकाल चन्देल वंश के परमाद्दिदेव एव त्रैलोक्यवर्मन की शासन अवधि को व्याप्त किए हुए है। वत्सराज ने अपने किरातार्जुनीय व्यायोग में अर्जुन के चरित्र के माध्यम से संकेत दिया है कि शौर्य, पराक्रम एवं तपस्या से समन्वित होकर ही कोई व्यक्ति या राष्ट्र विजयिनी शक्ति को प्राप्त करता है। राष्ट्र के उद्धार हेतु क्षत्रि धर्म एवं तप से उद्भूत शौर्य की आवश्यकता है। वत्सराज ने अपने रूपक "त्रिपुरदाह डिम" के माध्यम से अपने समकालीन राजनैतिक वातावरण को सांकेतिक रूप में चित्रित किया है। जिस प्रकार त्रिपुरशक्ति से त्रस्त देवलोक किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर दयनीय अवस्था को प्राप्त हो गया था और शक्ति सम्पन्न देवगण भी एकता एवं नेतृत्व के अभाव में दलित हो रहे थे, उसी प्रकार कवि के समय में राष्ट्र की भी एकता एवं नेतृत्व के अभाव में दयनीय अवस्था थी। शौर्य, शक्ति एवं उत्सर्ग भावना से सम्पन्न राजपूत राज्य पारस्परिक विद्वेष के कारण संगठन के अभाव में विदेशी आक्रमणों के सामने हतप्रभ हो रहे थे। वत्सराज ने अपने रूपक 'त्रिपुरदाह डिम" में संगठित देवशक्ति द्वारा आसुरी शक्ति पर विजय प्रदर्शित कर राष्ट्रीय एकता का सन्देश दिया है। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के दृढ़ संकल्प पारस्परिक विश्वास एवं नेतृत्व के द्वारा अपराजेय समझी जाने वाली दानव शक्ति क्षणमात्र में भस्मसात होती मालूम पड़ती है।

राजपूतों के शासन में उत्तर भारत में अनेक राज्यों की स्थापना हो गई थी। राज्य विस्तार की उत्कट भावना ने सभी राज्यों को पारस्परिक युद्धों में उलझा दिया था। राष्ट्रीय शक्ति बिखर कर राज्य शक्ति में सिमट गई थी तथा राष्ट्रीयता का स्थान राज्य शक्ति ने ले लिया था। इस संकुचित चिन्तन एवं अदूरदर्शिता से भारत को राष्ट्रीय अपमान एवं राजनैतिक ह्रास का दुर्दिन देखना पड़ा। तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग इस संकुचित भावना के परिणाम से पूर्ण परिचित था तथा उसको समाप्त करने हेतु प्रयत्नशील भी था।

वत्सराज ने अपने रूपक "त्रिपुरदाह" एवं "समुद्रमन्थन" में संगठन की शक्ति एवं महत्ता को व्यक्त किया है। उन्होंने संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिये संकुचित राज्य-भक्ति अथवा अहंकार का उत्सर्ग करने का भी संकेत किया है।

"त्रिपुरदाह डिम" में नन्दी कपटनारद से अपने स्वामी महेश की विष्णु

द्वारा की गयी तिरस्क्रिया को सुनकर अपने विवेक को खोकर कुपित हो जाता है।[1] यह तत्कालीन समाज की राज्य भक्ति का ही एक नमूना है। त्रिपुरासुर विनाश हेतु संगठित देव शक्ति का नेतृत्व विष्णु के द्वारा होना भी कार्तिकेय को स्वयं का अपमान प्रतीत होता है। इसी प्रकार कार्तिकेय विष्णु के प्रति जो भाव व्यक्त करते हैं।[2] उससे राजपूत युग के सामयिक संगठनों में उठने वाले नेतृत्व के विवाद जो कालान्तर में संगठन के विघटन के कारण बनते थे, ही उजागर होते हैं। राजपूत शासकों ने विदेशी आक्रान्ताओं को रोकने के लिये अनेक बार संगठित शक्ति का निर्माण किया, किन्तु संकुचित राज भक्ति अहमन्यता, नेतृत्व प्रतिस्पर्धा एवं "विजय श्री" से प्राप्त फल एवं गौरव में आपाधापी और प्रतिस्पर्धा के कारण ये संगठन चिर-स्थाई न रह सके और शीघ्र ही बिखर गये। कवि वत्सराज ने "त्रिपुरदाह" के पश्चात् शिव द्वारा[3] विजय श्री में सभी देवों की सहभागिता तथा समभागिता के कथन द्वारा अपने युग को सन्देश दिया है कि इसी व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण से ही संगठन को शक्ति एवं चिर-स्वामित्व मिलता है। पारस्परिक विश्वास से युक्त विभिन्न घटक जब पूर्ण निष्ठा एवं समर्पण भाव से संगठित होते हैं, तभी संगठन में विजयिनी शक्ति का आविर्भाव होता है तथा अपराजेय समझी जाने वाली दानवी शक्तियाँ भी भस्मसात् हो जाती हैं।

आर्यजन कभी भी शौर्य में कम न थे, किन्तु वे युद्ध में भी युद्ध-धर्म का पालन करना अपना परम धर्म अंगीकार करते थे। शस्त्रहीन योद्धा पर प्रहार न करना, नगरों एवं ग्रामों की जनता, स्त्री एवं बालकों पर प्रहार न करना आदि युद्ध नियमों का कठोरता से पालन करते थे। जबकि ग्रामों एवं नगरों में अग्निदाह और सामूहिक जन-संहार करके जनता को भयाक्रान्त करना आक्रान्ता यवनों की रणयोजना का प्रमुख अंग रहता था। देवताओं द्वारा राक्षसों सहित त्रिपुरदाह[4] यवनाक्रान्ताओं के द्वारा किये गये नगरदाह को ही निरूपित करता है।

राजपूत काल के ऐतिहासिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय कुछ राजाओं ने अपने प्रभाव एवं शक्ति की अभिवृद्धि के लिये अन्य राज्यवंशों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। किन्तु मिथ्याकुलाभिमान के कारण ये सम्बन्ध भी अपमानजनक होकर भयानक विद्वेष के रूप में प्रतिफलित हुये। पृथ्वीराज के द्वारा संयोगिता से विवाह जयचन्द्र और पृथ्वीराज चौहान के मध्य भयानक विद्वेष का कारण बना। यदि इसमें विवेक से कार्य लिया जाता तो दोनों शक्तिशाली राज्यवंशों के सम्मिलन से एक ऐसी शक्तिशाली राष्ट्रीय शक्ति

१. रूपक षटकम्—त्रिपुरदाह, पृ० ९०
२. रूपक षटकम्— पृ० ८६, श्लोक ४०
३ वही, पृ० ११६, श्लोक २२
४. रूपक षट्कम् त्रिपुरदाह—पृ० १०२, श्लोक ११,

का प्रादुर्भाव होता है जिसके सम्मुख आक्रान्ता यवन महमूद गोरी को परास्त ही होना पड़ता, किन्तु इन राजाओं की हठधर्मिता के कारण ऐसा सम्भव नहीं हुआ। "रुक्मिणीहरण" में रूक्मी के द्वारा चेद वंश के राजा शिशुपाल से अपनी बहिन रुक्मिणी के विवाह द्वारा अपनी शक्ति में वृद्धि करने का प्रयास ही परिलक्षित होता है। बलराम एवं कृष्णं के द्वारा रूक्मिणी का हरण करके भी रूक्मिणी के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाना एक कुशल राजनैतिक निर्णय प्रतीत होता है जो कि उस युग की अपरिहार्य आवश्यकता थी। उत्तर पश्चिम से राष्ट्रीय गौरव पर निरन्तर विदेशी प्रहार हो रहे थे, ऐसे प्रतिकूल समय में भी राजपूत राजा अपने पारस्परिक विद्वेषों को भुलाकर राष्ट्र की रक्षा हेतु एक सूत्रता में न बंध सके। "समुद्रमंथन" में परम्परागत शत्रुता से पूरित देव और दानव समुद्रमंथन के द्वारा रत्नों की प्राप्ति करते हैं। यह इस बात का द्योतक है कि राष्ट्र की सुरक्षा हेतु पारस्परिक विद्वेष को भुलाकर संगठित राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण करके राष्ट्र श्री की रक्षा का प्रयास किया जाना, उस समय की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता थी।

सुरा एवं सुन्दरी से मूर्च्छित समाज को संजीवनी देने के लिये वत्सराज ने "कर्पूर चरित्र भाण" एवं "हास्य चूड़ामणि प्रहसन" नामक रूपकों की रचना की। "कर्पूर चरित्र भाण" में समाज में व्याप्त अस्वास्थ्यकर प्रवृत्तियों का नग्न यर्थाथवादी चित्रण कर सामाजिकों को इनसे दूर रहने का सन्देश दिया है। प्रेम का स्थान यौन विलासों में ही समाहित हो गया था। परिणामस्वरूप कुलस्त्री के स्थान पर वारवधु ने प्रभुत्व जमा लिया था। इस प्रकार के चित्रण से सामाजिक के हृदय में वेश्याओं एवं उनसे सम्बद्ध समाज के प्रति वितृष्णा का भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार "भाण" रूपकों का उद्देश्य रसास्वादन करने के साथ-साथ "अशिव" का विनाश करके "शिव" की प्रतिष्ठा करना भी है। हमारे इस मत के विरोध में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जिन "भाणों" में इस प्रकार के दूषित चरित्रों का प्रदर्शन होता है, उससे तो समाज में इन दूषित प्रवृत्तियों का और अधिक ही प्रचार एवं प्रसार होने की सम्भावना है। इन प्रवृत्तियों का निराकरण तो धर्म-ग्रन्थों से ही सम्भव हो सकता है। इस विषय में हमारा अभिमत है कि वृत्तियों के निरोध एवं प्रवृत्तियों के संस्कार के दो ही साधन हैं—शास्त्र एवं कला। शास्त्र वचन भी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाकर उनका निरोधन करते हैं, किन्तु यह प्रभाव चिरस्थाई नहीं होता। कला (काव्यादि) के द्वारा किया गया वृत्तियों का संस्कार चिरस्थाई होता है। "भाण" आदि में प्रदर्शित शृंगारादि के द्वारा सामाजिकों के हृदयस्थ काम-वासना की निवृति एवं विवेचन होता है तथा वह इसके दुष्परिणामों से परिचित होकर इनके प्रति विरक्तिता प्राप्त करता है।

हास्य चूड़ामणि प्रहसन का प्रेरणा स्रोत वत्सराज का युग एवं उसकी सामाजिक विद्रूपता ही रहा है। मध्यकाल का भारतीय समाज राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक सभी दृष्टियों से पतन का काल था। समाज में धर्म अपने उच्च आसन से गिरकर ढोंग, पाखण्ड एवं तन्त्र विद्या का रूप धारण कर चुका था। राजनैतिक सुव्यवस्था के अभाव में समाज में असामाजिक एवं समाज की व्यवस्था को दूषित करने वाले वैश्या, चेट भाण एवं द्यूतकारों का बोलबाला हो गया था। प्रस्तुत प्रहसन के द्वारा वत्सराज ने समाज की इस पतनोन्मुखी व्यवस्था का चित्रण कर इनके निराकरण एवं परिष्करण का सन्देश व्यंजित किया है।

काव्य शिल्प को दो रूप में विभक्त कर सकते हैं—वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ। वस्तुनिष्ठ का अर्थ है—अभिव्यक्ति पक्ष और भावनिष्ठ का अर्थ है—अनुभूति पक्ष। अनुभूति पक्ष में—रस प्रकृति चिन्तन है। अभिव्यक्ति पक्ष में—अलंकार भाषा एवं छन्द योजना।

"सद्यः पर निर्वृत्ति" ही काव्य का परमोद्देश्य है। सद्यः पर निर्वृत्ति ही आनन्द की अवस्था है। यह आनन्दानुभूति ही रसानुभूति है। जिस प्रकार एक साधक साधना के मार्ग से जिस मधुमती भूमिका को प्राप्त करता है, उसी प्रकार सहृदय भी काव्यचर्वणा द्वारा उस मधुमती भूमिका को प्राप्त करता है जहां सर्वत्र आनन्द ही आनन्द शेष रहता है। रूपककार वत्सराज इस रस की महत्ता से पूर्ण परिचित थे, अतः उनके रूपकों में रसों की व्यापक एवं मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है। वत्सराज के काव्य में युग के प्रभाव के कारण प्रमुखतः दीप्त रसों—वीर, रौद्र, वीभत्स, भयानक की अभिव्यक्ति हुई है। इन रसों के अतिरिक्त शृंगार हास्य आदि रसों की भी अभिव्यंजना हुई है। महाकवि वत्सराज द्वारा किये गए प्रकृति चित्रण को निम्नलिखित रूपों में विभक्त कर सकते हैं—

१—आलम्बन रूप में। २—मानवीकरण के रूप में। ३—उद्दीपन के रूप में। ४—भावों की पृष्ठभूमि के रूप में। ५—उपमान योजना या अप्रस्तुत योजना के रूप में।

कविवर वत्सराज प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं। उनकी कविता में सर्वत्र अनुभूति का अनुपम सौन्दर्य है। उनकी अनुभूति का क्षेत्र व्यापक, गहन एवं सघन है जिसे उन्होंने अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति से और भी अधिक चित्ताकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण बनाया है। वत्सराज की अलंकार योजना की सर्वातिशयनी चारुता का कारण उसकी स्वाभाविक योजना है। वत्सराज के काव्व में 'शब्दालंकार' एवं 'अर्थालंकार' की विशद योजना हुई है।

वत्सराज के रूपकों में शार्दूल विक्रीडित एवं वसन्ततिलका छन्दों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। रस विवेचन प्रसंग में हम विश्लेषित कर चुके हैं कि उनके काव्यों में वीर, रौद्र, अद्भुत आदि रसों की प्रधानता है। इन रसों में अभिव्यंजना हेतु सर्वाधिक अनुकूलता शार्दूल-विक्रीडित एवं वसन्त तिलका छन्द

में ही प्राप्त होती है। छन्दौचित्य को ध्यान में रखते हुये कवि ने इन्हीं छन्दों का सर्वाधिक प्रयोग किया है। उनके छन्द भावों को ध्वनित करते हैं और इस प्रकार कवि ने छन्दों के माध्यम से भाव एवं भाषा का सुन्दर समन्वय किया है। वत्सराज की छन्द योजना में सर्वत्र विशेष प्रकार की मसृणता और कोमलता, ओजस्विता और दीप्तिता का गुण विद्यमान है। वत्सराज ने प्राकृत भाषा में प्राकृत कवियों के प्रिय छन्द गाथा का ही प्रयोग किया है जो कि श्रृंगार-वर्णन में चतुर प्राकृत कवियों की एक परम्परा के रूप में समादृत माना गया है।

वत्सराज का स्थान केवल विविध रूपक—विधाओं की रचनाओं के कारण ही नहीं, अपितु अपनी युगीन सामाजिक अपेक्षाओं एवं जातीय-चेतना के प्रखर गायक के रूप में भी महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने अपने रूपकों के माध्यम से राष्ट्रीय गौरव एवं शौर्य का सन्देश दिया है, साथ ही शत्रुओं के निर्मम आक्रमणों से दर्पाहित राष्ट्र को एकता का सन्देश देकर उसमें नवस्फूर्ति एवं नव-चेतना का संचार का प्रयास किया है। वत्सराज के प्रख्यात कथानकों पर आधारित रूपकों के कथानक यद्यपि पौराणिक हैं, फिर भी वत्सराज ने इन पौराणिक कथानकों को इस रूप में प्रस्तुत किया है जिससे उनमें युग-चेतना का स्वर मुखरित हो उठा है।

वत्सराज ने अपने युग के समाज को अधोपतन के गर्त से निकालने के लिये प्रख्यात कथानकों को आधार बनाकर भाण एवं प्रहसन रचना की जिनके माध्यम से उन्होंने व्यसनों एवं विलास में मग्नजनों को सही दिशा का मार्ग-दर्शन किया है। मध्य युग के प्रहसनकार हास्य की सृष्टि में कहीं-कहीं अमर्यादित होकर अश्लीलता की सीमा को छू जाते हैं, किन्तु वत्सराज का हास्य सर्वथा शिष्ट हास्य ही दिखाई पड़ता है।

वत्सराज के पौराणिक नाटकों में वीर रस के साथ रौद्र, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत रसों का अद्भुत परिपाक हुआ है। इन दीप्त रसों के साथ श्रृंगार, हास्य की भी सुमधुर अभिव्यंजना हुई है, जो पाठगण को बरबस आकृष्ट करती है।

वत्सराज की अभिव्यक्ति अपनी सहज प्रसादात्मकता से सुकुमार बुद्धि पाठक को भी भाव बोध्य है। उनके रूपकों की भाषा अलंकृत होते हुये भी क्लिष्टता के दोष से मुक्त है। संवादों की संक्षिप्तता व्यंजकता वत्सराज के रूपक साहित्य का वैभव है।

रूपकों का लघु कलेवर, घटनाओं की नाटकीय योजना सरल दृश्य—विधान, प्रसाद--ओज—मिश्रित काव्य शैली एवं अभिनेता का आकर्षक गुण वत्सराज के रूपकों की मूल्यवत्ता की अभिवृद्धि करते हैं।

—:o:—

An assesment on sin in taking garlic etc and their Prāyaścitta

Dr. Prafulla K. Mishra
Utkal University

Garlic and onion etc. are bracketed under the category of **abhaksa bhaksana**— food which are not worth eating; many smṛti writers have discussed this topic[1]. They are (in alphabetical order) Angira, Atri, Apasthamba, Bṛhadyama, Bṛhaspati, Manu, Yājñavalkya, Vaśiṣtha, Vedavyāsa and Saṅkha Harita and others. Almost all of them are quite similar on this issue. All the authorities mentioned above have very strongly affirmed the occurance of **Pāpa** due to the intake of garlic etc.

The sin occured in this connection can be viewed as an **upapātaka.** Mitra Miśra in his Vīramitrodaya commentary of **Yājñavalkya smṛti** enumerates this **abhakṣabhakṣaṇa** (like garlic ete. eating) under the **upapātaka**. This opinion is acceptable in confirmity with the enumeration of Manu's **upapataka**[2]. Commentator Kulluka explains **ninditanna** as **laśunai** or garlic as **abhakṣa bhakṣaṇa**. But when they are equated with **surāpāna,** then it becomes a mahāpātaka or a great sin. Manu in the kārikā—XI·56 includes this under **surāpāna** and in the same work XI.64 enumerates this as **upapātaka.** This can not objectively be included under **mahā** or **upapātaka.**

---

1. See the table.
2. taduktam—mahāpātakatulyāni pāpānyeuktāni yānitu/ tānipātaka sañjñani tannyunamupapātakam//iti

Yājnavallkya smṛtiḥ—Vīramitrodayamitakṣar samhitā—Prayascitta Prakaraṇa, Chawkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 19, 30 page—929.

Vīramitra:—Cakāratathā śabdairbahubhir bahunām manvādyuktānām lasuna bhaksaṇādi— acaradinam samgrah/ ibid

In a close view to the table attached herewith it is revealed that in take of garlic etc. is included under **upapātaka**. This view is accepted by Aṅgira, Apasthambha, **Bṛhad yama. Smritis** are very serious about this and they view this as good as drinking wine. They are Bṛhaspati and Yājñavalkya. The commentator Vijñaneśvara on mitākṣara comm. prescribes atonement as per with **surāpāna**, drinking wine. Drinking of **Kuśajala** or of different leaves or herbs can reduce Pāpa[1] Harita prescribes to remain without food for twelve nights while quoting Saṅkha[2].

It is needless to state that smṛtis are serious about the **pāpa** and **prāyaścitta.** They take the cognizance of **pāpa** due to the intake of garlic etc. In opposition to this the Āyurvedic science is in praise of garlic and onion etc. Charaka in his **Charaka Samhitā** speakes of the usefulness of garlic and onion as dispeller of **Vāta** or defects of formation of wind, **Kapha** or cough and **pitta** or bile in the body[3]

Modern Medical Science popularly speaks that intake of garlic reduces a level of fat from the blood namely cholestrerol and tri glycerides. The presence of these fat in the blood is the

1. garhitanady ayorjagdhih surāpāna sāmani sat—XI·56.
   ātmārtham ca kriyārambho ninditannadanam tathā
   —XI·61.

   Manusmriti: —Chowkhambha Sanskrit Series V. S. 2039.
2. See the table.
3. quoted in **Yājñavalkya Smṛti** Mitākṣarā Comm. 176. page—250.
4. grāhi grnjanakastiksno vātaślesmarsa sannhitaḥ/
   svedane' bhyavahare ca Yojayet tamapittanām//
   ....
   haritānamayam caiṣam ṣastho vargaḥ samāpyate//33
   Charak Samhitā, Sutrasthāna, 2nd Edn. 1988 translated by Pt. Ananta Tripathy Sharma, Berhampur Chapter XXVII. 33 pp—393-4.

reason of isch-eamic heart diseases namely angiana pectoris and mycardial imfarction. Physicians at present advise to take onion and garlic to check this defect. Again it probably helps in digestion even if the mechanism is not clear. Garlic is also effective in the treatment of chronic amoebic dysentry. Naturally it reduces the formation of gas. If a person having no such defects like increase of blood pressure and heart disease, takes onion or garlic there is no possibilities of negative effect on him. This raises a question that why in take of garlic is not only prohibited but also included under the papas if there is no bad effect of these things? This food is prohibited for a **dvija**[1]. Garlic is considered as the cherished food of **yavanas**. It is as otherwise known as **yavanesta**. Dhanvantri and Susruta[2] are also of the same opinion. **Manusmrti** and **Agni Purāna**[3] note that by certain acts one usually falls from his caste. Smelling things like garlic, Onion etc. is one of those acts. Except this no reason is, given. But there is a strong comment in Vijnanesva's...M **tāksāra** comm. His mention of **Jātidusta** etc. or ordurous food is not convincing and clear. So also the ordure arises while they are fried or cooked. Is is often seen that some food or leaves emit bad odour have also rich food value and they are good for health. So the validity of the prohibiton of this food is challenged in this regard. Why **Dramasāstras** are silent on the reasons in determining various pāpas?

In Dharmasāstra to ask question is irrelevant since they are all **prabhu sammita vākyas** The commands of the master is unchallengeable. Dharamsastras are commandments. There cannot be question or no question can be asked Says so Vasistha **agrhyamāna kārano dharmah**—I·6. The mode of atonement as mentioned earlier, precribed by various smrtis are quite clear. Some take liberal view and some are more serious even in tou h

---

1. Dvija refers to Brāhmin, **Ksetriya** and **Vaisya**
2. Amarakosa,—Ramāsrami comm. Page—178
3. Manu smrts. IX.67. Agni Puranam 168-38.

of garlic[1]. The reference of garlic etc, in Ayurvedic and Allopathic practices raises another issue in this regard. If there is alternative medicine for garlic etc. the case of intake garlic etc. does not arise. Secondly if they are indespensable in abnormal cases like heart disease etc. that case is extraordinary and exempted from sin. The scope of the topic is to examine the normal cases here.

Further, man cannot be assessed on the basis of body only. There is a subtler being behind the body, the soal. Dhramaśāstras deal with the betterment of body as well as the soul. The food which is hostile for the sustenance of the body is not acceptable. So also the food defiles of the purity of the soul is also not worth eating. Garlic, onion etc. by nature are irritating and exciting foods. This seems to be included under **rajas** quality[3]. The consequence of **rajas** food produce pain, grief, and sickness. This type of food though apparently good for health drowns a man in ignorance as a result of which he remains as a prey of passions.

There should be a balance between body and the soul. Dharmaśāstras seem to take note of both of them. A **dvija** who is expected to maintain **sāttvika** life, should avoid exciting foods.

Under these circumstances though prohibition of garlic eating appears contradictory, in different context it finally Justifies the stand of Dharmaśāstra. Hence in order to reduce the consequence of the sin, one has to undergo the prayascittas, as prescribed by them. The present situation is free to judge this issue.

---

1. **Vasistha smṛtih**, Smrtinām Sāmuccaya, Anandasram Granthamala No. 48, page—186.
2. Refer the table column 6 & 8.
3. **Srimadbhagavat Gitā** XVII 9—10.

A TABLE THE DIFFERENT PAPAS AND PRAYASCITA IN TAKING GARLIC ETC. TYPE

Srl. No.	Name of work	Chapter	Karika	Text on the papa	Text of Prayascitta	Speciality	Comments
1	2	3	4	5	6	7	8
1	Angirā Smṛtiṇ	Page-7	138-9	abhakṣaṇāmabeyānā malehyānām ca bhakṣaṇe/ retomūtrapuriṣānām prāy ascitam katham bhavet// 138	Padmadmbara bilvānam kusāsvattha palāśayoḥ/ etesa mudakam pitvā sad rātreṇa viśuddhayati//139	included under upapātaka	The prāyaścit is very simple
2	Atri Smṛtiḥ	Ch. VII/VIII Page 32-33	6	mṛta kāsṭhe adhotsarge taśuna palāṇḍu gṛñjana kumbhirāka gomāyu vidvarāha svādinām maṇyesam vā'bhaksyānām bhakṣṇe om suddhenāpah pitva śuddhyet//6	apeyam pitvā' bhakṣyayitrā' kāryam kṛtvā' ghamarsaṇenāpah pitvā suddhyet/VII. 14 tatra rajanim yavad yāmamekam samācaret/ tat pūrvam brahma tatsaviturvareṇya	—do—	Simpler is the prāyasicitta

1	2	3	4		6	7	8
				mity abhaksya a bhak- sanād apeya pānād akārya karanād as' esato mucyate/VIII.4			
3	Apasthambha Smrtih	Ch IX Page 42	5-6	alehyānām apeyānām abhaksānāmca bhak-sanam/ reto mūtra purisānām prāyascittam katham bhavet//IX—5.	padmodumbara bil vāsca kuśaśca sapal-āsakā/ etesam udakam pitvā sadratr-ena viśuddhyati//IX 6.	—do—	Simple
4	Brhadyama Smrtih	Ch III Page-103	76-78	abhaksānām apeyānām alehyānām ca bhaksane/ retomūtra purisānām prāyaścittam katham bhavet//III 62	padomodumbara bil-vāhām kuśaśvatha palāsayoh/ etesām udakam pitvā pañca gavyena suddh-yati//III.63	—do—	Pañca-gavya
5	Brhaspati Smrtih	Ch. VI Page 383-4 Prāscitta Kāndam	32 66-68	laśunam kavakamcaiva palāndunigrñjanam tathā/catvryajnnato jagdhvā tapta krcchram	palāndu laśuna sparśe sratvā. naktam samā-caret/ktroccāra stvaho-rātram ucchisto dvya-	The sin extremi- is equated with sura which is	st appr oach wants

				jagdhvā tapta kṛcchram rātram ucchisto dvya-	which is	wants
				caraddvijah//VI. 32 surāpalāṇḍu laśuna sparśe kāma kṛte dvijah/tryaham pivet kuśajalam gāyatrim ca japet tathā//VI. 76	ham eva ca//VI. 77 alehānam apayānām abhaksāṇām ca bhak- sana/retomutra puris- anam suddhi scā ndrāyanam// smṛtam//VI 78	a great sin to eat- or mahāpā- ars. taka Prāyaścitta is harder
6	Manu Smṛtiḥ Page—236	Ch. V.	5	laśunaṁ gṛñjanaṁ caiva palāndum kavakānica/ abhaksāni dvijātinām amadoya prabhāvani ca//V. 5	amatyaitāni sat jag- dhvā kṛcchraṁ san- tapanaṁ caret/ jati cāndrānaṁ vāpi śeṣeṣu pavased ahah// V. 20	minor sin or still Upapātaka harder
			19	Chatrakaṁ vid varā- haṁ ca laśunaṁ grāma kukkvtaṁ/palāndṁ caiva matyā jagdhvā pated dvijah//		
		Ch. XI	59	garhitādyayor jadgdhi etc. XI: 56 V. 19		
			64	also see—64		

1	2	3	4	5	5	7	8
7	Yajńa valkya smtirh		Ch. VII 176 page—249 bhaksa bhaksa prakaranam	palāndum vid varāham ca chatrakam grama kukkutam/lasunam grñjanam caivā jagdvā cāndrāyanam caret// 175	(mitāksara comm.):— tatra jatidustapaland- vadi bhaksana kamatah sakrtkrte "palāndum vidvarāham ca" ityādi- nācāndrāyana muktam/ nisidhabhaksanm jaim- bheyam's ityādinā kamato' bhyāsetu cānd- rāyanamuktam// yattu sumantuno ktam— laśuna palāndugrñja kavakābhaksana savitrya sta sahasrena mūrdhni sampātānnayat" ieti// p—1044		Astasāha- sra sāvitri japa
8	Vasistha smrtih		Ch. XIV 28 page—210	laśunapalāndu kamuka grñjana ślesmātaka vrksa niryāsa, lohita vrascana sva kakavali dha sudrocchista bhoj-		Upapātaka	

vrascana sva kakavali
dha sudrocchista bhoj-
anesn krchrati-krcchra
itare' pyanayatra madhu
mam sa phala vikarsesva
gramya pasava (su) Visa-
yah//Line-28

9 Vedavyāsa smrtih	Ch. III 64 Page-366	alābu s'igrka vaka cchat- raka las'unānica/ palāndu s'veta vrntaka rakta mūlakam sva ca//64	grñjanāruna vrksasrg janta garbha phalāni ca/ akala kusumadinidvijo jagdhvaindavam caret//	—do— harder
10 Śaṅkha smrtih	Ch. XVII 20 Page 391	bhuktvā palāndu las'nam madyam ca kavakānica raram malam tathā māmsam vid varāham kharam tatha/ gaudha ra kuñjarostram ca sarva pañca nakham tatha/kravyadam kukkutam grāmyam	kuryat sambatsonam vratam//21 as quoted by Harit dvadas- aratram payah pibet iti/	

कुमारसम्भव के प्रयोगद्वय का वल्लभदेवकृत-विमर्श *

डॉ॰ कमलेश छः चोकसी
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
भाषासाहित्यभवन, गुजरात युनि॰,
अहमदाबाद—३८०००६.

प्रास्ताविक—काव्यमात्र रमणीय होता है। काव्य की रमणीयता का कारण, उसका समय-समय पर नवीनता को लेकर उपस्थित होना है। दूसरी भाषाओं के काव्य की बात जाने दें, तो भी कम से कम संस्कृतकाव्य के लिये यह बात बिलकुल सत्य है। संस्कृत के काव्य समय-समय पर नया रूप लेकर आस्वादक के सामने उपस्थित होता रहा है।

काव्य की, खास रूप से संस्कृत काव्य की क्षण-क्षण-भाविनी नवता के कारणों का विचार करें, तो सर्वप्रथम आस्वादक की सहृदयता को कारण माना जा सकता है। आस्वादक की सहृदयता का भिन्न-भिन्न स्तर होने से एक ही काव्य का तत्तत् सहृदयों को भिन्न-भिन्न रूप से रसास्वाद होता है और इसी कारण वह नित्य नवीन रसास्वाद दिलाता रहता है।

संस्कृत-काव्य के रसास्वाद की नवता में सहृदयता के अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का विशेष अध्ययन भी कारण के रूप में क्वचित् उपस्थित होता है। काव्य में प्रयुक्त पदों की व्युत्पत्ति आदि के द्वारा उसके अर्थों की विविधता प्रकट होकर शब्द के अर्थभेद से भी काव्य के रसास्वाद में कहीं-कहीं नवता आ जाती है।

कालिदास के कुमारसम्भव [मात्र अष्टम सर्ग पर्यन्त] की पञ्जिका टीका में उसके कर्ता वल्लभदेव ने भी अपने व्याकरण शास्त्रीय अध्ययन के आधार पर कुछ स्थानों पर महाकवि कालिदास की कविता का परम्परागत रसास्वाद तो कराया ही है, साथ में नवीन रसास्वाद भी कराया है। ऐसे ही कुछ स्थानों का विमर्श यहाँ किया जा रहा है।

× × × ×

हिमालय की सुषमा के वर्णन प्रसंग का [सर्ग–१, श्लोक–११] एक श्लोक है—

---

* कालिदास समारोह (दि. २२–११–८१ से २४–११–८१ तक) उज्जैन, म॰ प्र॰ के लिये तैयार कर, शोधपत्रवाचन के तृतीय सत्र में पठित लेख॥

उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्
मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता
भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्य: ।।

इस श्लोक में, उत्तरार्द्ध में, "अश्वमुख्य: मन्दाम् गतिम् न भिन्दन्ति" [अर्थ:—किन्नर स्त्रियाँ मन्द गति को छोड़ नहीं पा रही हैं ।] मुख्य वाक्य है। किन्नर स्त्रियाँ कैसी हैं, यह बताने के लिये उसका विशेषण पद है—'दुर्वह-श्रोणि-पयोधरार्ता:' ।

इस पद का परम्परागत अर्थ करते हुये सभी लोग इस प्रकार से विग्रह करते हैं—'दुर्वहेन श्रोणिपयोधरेण आर्ता:' [तृतीया तत्पुरुष समास] अत: इसका अर्थ होगा—कठिनाई से वहन किये जाने वाले श्रोणी और पयोधर के द्वारा पीड़ित-किन्नर स्त्रियाँ ।[1]

बल्लभदेव ने भी प्रथम तो इसी प्रकार से पदच्छेद एवं विग्रह दिया है, और इसी प्रकार का अर्थ भी। साथ ही साथ इस पद का एक अन्य अर्थ लगाया है। उन्होंने इस समस्त पद का विग्रह 'दुर्वह - श्रोणिपयोधर—ऋता:' मान कर 'आर्ता:' के स्थान पर 'ऋता:' पद की कल्पना की है और उसके पर्यायवाची शब्दों के रूप में 'प्राप्ता:, सम्बद्धा:' ये दो शब्द दिये हैं। पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से यह कल्पना उचित ही ठहरती है, जैसा कि उन्होंने स्वयं भी निर्देश किया है। गति तथा प्रापण इन दो अर्थों में 'ऋ यह भ्वादिगण का धातु है।[2] इस धातु से भूतकालिक निष्ठा अर्थात् 'क्त' प्रत्यय[3] करने पर ऋत' शब्द निष्पन्न होता है। इसका स्त्रीलिंग रूप टाप् > आ प्रत्यय[4] करने पर 'ऋता' बनेगा। इस 'ऋता' पद का 'दुर्वह श्रोणिपयोधरेण' इस तृ० वि० पद के साथ समास होकर 'दुर्वहश्रोणि-पयोधर-ऋता:' पद बन जायेगा। अब रही बात सन्धि की, सो भी 'ऋते च तृतीयासमासे' इस वार्तिक[5] से वृद्धि हो कर 'दुर्वहश्रेणिपयोधरार्ता:' यह

१. द्रष्टव्य:—श्रोणयश्च पयोधराश्च श्रोणिपयोधरम् । दुर्वहेण दुर्धरेण श्रोणिपयोधरेणार्ता: पीडिता: । आङ्पूर्वाद् ऋच्छते: क्त: । 'उपसर्गादृति धातौ ।' [पा० सू० ६—१—८८] इति वृद्धि: ।।—१, ११ इत्यत्र **मल्लिनाथ: ।।**

२. ऋ गतिप्रापणयो: ।। —**सि० कौमुदी,** धातु संख्या—१००२

३. निष्ठा ।। पा० सू० ३-२-१०२

४. अजाद्यतष्टाप् ।। पा० सू० ४—१—४

५. पा० सू० ६—१—८९ इत्यत्र वार्तिकम् ।

अभीष्ट रूप निस्पन्न हो जायेगा।[१]

इस प्रकार निष्पन्न हुये पद का अर्थ होगा—"कठिनाई से वहन किये जाने वाले श्रोणी और पयोधर के साथ सम्बद्ध ऐसी किन्नर स्त्रियाँ मन्द गति को छोड़ नहीं पा रही हैं।"

वल्लभदेव के द्वारा दिये गये इस अर्थ को लेने पर कवि कालिदास के इस काव्य का लावण्य और उभरकर सामने आता है। परम्परागत—'आर्ता' अर्थात् पीडिता—अर्थ लेने से, निसर्ग से प्राप्त श्रोणी और पयोधर, किन्नर स्त्रियों के पीड़ा के कारण से बने हुये हैं, इस प्रकार का अपेक्षाकृत कुछ कम रमणीय अर्थ लेना पड़ता है। जबकि इस नव-अर्थ-घटन के द्वारा निसर्ग के द्वारा प्राप्त (खास रूप से पुष्पादि के फलस्वरूप; क्योंकि स्वरूपवती होना भी किसी पुण्य का ही फल माना जाता है।) श्रोणि—पयोधर पीडा के कारण नहीं बल्कि किन्नर-स्त्रियों के लिये कुछ गौरव का भाव लेकर आते हैं; और इस प्रकार यह काव्य और भी चमत्कृति/लावण्य वाला बन जाता है। इस प्रकार का रसास्वादन अन्य किसी टीकाकार ने नहीं कराया।

इसी प्रकार तीसरे सर्ग में पार्वती-परमेश्वर का सङ्गम कराने के उपायों का अनुष्ठान करने के लिये इन्द्र कामदेव को बुलाते हैं, और उनके पराक्रम का वर्णन करते हैं। इसी सन्दर्भ में एक (३/१२) श्लोक है—

सर्वं सखे ! त्वय्युपपमन्नमेत-
  दुभे ममास्त्रे कुलिश भवांश्च।
पूर्वं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं
  त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ॥१२॥

यह श्लोक अपने सामने खड़े कामदेव के प्रति इन्द्र की उक्ति के रूप में है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में इन्द्र कामदेव को अपने अस्त्र के बारे में "उभे ममास्त्रे कुलिशं भवांश्च" कहकर कुलिश=वज्र और भवान्=आप कामदेव को अपने अस्त्र बता रहे हैं और इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में कुलिश और भवान्=कामदेव रूप दो अस्त्रों में से कुलिश की (पार्वती-परमेश्वर के सगमरूप कार्य को सिद्ध करने के लिये) न्यूनता और भवान्=कामदेव के सामर्थ्य की अधिकता बताई गई है।

इस पद्य के पद सरल और आसानी से रसाम्वादन करने वाले हैं। अथवा यों कहें कि इस श्लोक के सभी पद सरल होने से इस के रसास्वादन में और कोई

---

१. "कथं तर्हि त्वरया न यान्तीत्याह—दुर्वहेण पीनेन श्रोणिपयोधरेण जघनस्तनेनार्ताः पीडिताः। यदि वा ऋताः प्राप्ताः सम्बद्धाः। 'ऋते तृतीयासमासे' इति वृद्धिः॥' —कुमारसम्भवस्य वल्लभदेवकृता टीका; सं० गौतम पटेल, अहमदावाद, सन् १९८६; पृ० १२. [१.११]

नवीनता की संभावना नहींवत् है। मल्लिनाथ, अरुणगिरिनाथ, नारायणपण्डि इत्यादि व्याख्याकारों ने भी इस स्थल पर कोई विशेष बात नहीं कही। पर वल्लभदेव ने यहाँ कुछ विशेष विमर्श किया है। खास रूप से 'भवान्' और 'कुलि इन दो शब्दों को लेकर। इससे इस श्लोक के रसास्वादन में नवता अनुभव जा सकती है।

परम्परा से 'भवान्' और 'कुलिश' शब्दों का रूढ अर्थ लिया गया है 'भवान्' को सर्वनाम मानकर इसका अर्थ "आप, तुम = कामदेव" लिया जाता है इसी प्रकार से 'कुलिशम्' का अर्थ 'वज्र' लिया जाता है। वल्लभदेव ने अप पञ्जिका टीका में भवान् और कुलिशम् के परम्परागत अर्थ क्रमशः त्वम् अ वज्रम् तो दिये ही हैं; जो कि रूढ अर्थ हैं; साथ में इन दोनों शब्दों के उन्हं यौगिक अर्थ भी दिये हैं। इन अर्थों का उल्लेख अन्यत्र नहीं दिखाई देता अ इसके फलस्वरूप इस श्लोक के रसास्वादन में कुछ नवता का रमणीयता का अनुभव किया जा सकता है।

भवान् का परम्परागत अर्थ सुसंगत है ही; पुनरपि इसके यौगिक अ बिचारने का संभावित कारण इसी श्लोक पर दृष्टि डालने से ढूंढा जा सक है। वह इस प्रकार से कि इसके द्वितीय चरण में जिस कामदेव के लिये 'भवान्' पद है; उसी कामदेव के लिये इसी श्लोक के चतुर्थ चरण में 'त्वम्' का प्रयोग किया गया है। सामान्य रूप से किसी के लिये एक बार 'भवान्' प्रयोग और उसी श्लोक में दूसरी बार 'त्वम्' का प्रयोग किया जाय; तो ये प्रकार से काव्यगत दोष ही माना जाना चाहिये। संभवतः इसीलिये महा कालिदास के काव्य को दोष से बचा लेने के लिये वल्लभदेव ने 'भवान्' पद यौगिक अर्थ लेने की दिशा में विचार किया है। यद्यपि ऐसे दोष का किसी निर्देश किया नहीं है।

वल्लभदेव ने प्रथम तो 'भवान्' का परम्परागत रूढ अर्थ [आप-तु दिया है। पर बाद में 'भवान्' का यौगिक अर्थ 'तेजस्वी' दिया है। यह अर्थ के लिये उन्होंने पाणिनीय व्याकरण[1] का आश्रय लेकर भवान् शब्द की व्युत्प इस प्रकार बताई है।

---

1. पाणिनीय व्याकरण के उणादि सूत्रों में 'भातेर्डवतुप्' (पाद—१, ६३) ऐसा सूत्र है, जिसमें डवतुप् > अवत् प्रत्यय 'भा' धातु से गया है। यहाँ जो 'डवतु' का निर्देश है वह सरस्वती कण्ठाभ (भोजकृत) के अनुसार है, ऐसा अनुमान किया जा सकता (देखें—स० क० २-१-२५७) पा० व्या० परम्परा में नागेश भट्ट पा० सू० ४-१-६ के उद्योत में इस उणादि सूत्र को अनार्ष घो किया है।

"भवान् तेजस्वी। 'भा दीप्तौ' [धा० पा० १०५१] भातीति भातेर्डवतुः ।।" अर्थात् भवान् का अर्थ तेजस्वी है, क्योंकि यह शब्द दीप्ति अर्थ वाले 'भा' धातु से डवतु > अवत् प्रत्यय होने पर निष्पन्न हुआ है।

भवान् शब्द का यह यौगिक अर्थ लेने से इस श्लोक में जिसके पराक्रमों का वर्णन करना अभीष्ट है; उस कामदेव के व्यक्तित्व का और भी प्रभावशाली स्वरूप आस्वादक को अनुभव होगा। इन्द्र अपने अभीष्ट कार्य को सिद्ध करने में कामदेव को अपने सदैव के अस्त्र कुलिश = वज्र से भी ज्यादा शक्तिमान् बताना चाहते हैं। अतएव इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में—

"वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं
त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ।।"

ऐसा कहा गया है। इस कथन में कामदेव के **सर्वतोगामि और साधक** ये दो विशेषण, उसके शक्तिमत्त्व को कहते ही हैं; साथ में 'भवान्' का उपर्युक्त अर्थ लेने पर अब एक और विशेषण भवान् = तेजस्वी आकर उस कामदेव के व्यक्तित्व को और ज्यादा उजागर करता है।

अब 'कुलिशम्' इस प्रयोग के विषय में विचार करें। शक्तिग्रह के साधन कोश[1] से इसका प्रचलित अर्थ 'व्रज' प्राप्त होता है। इस अर्थ का उल्लेख करने के बाद, इस शब्द की व्युत्पत्ति बताकर उसके यौगिक अर्थ का निर्देश वल्लभदेव ने इस प्रकार किया है—

"कुलिशं तु 'लिश गतौ' [धा० पा० १४२२] कुषु त्रिजगत्सु लिशति गच्छतीति कुलिशम्, इति स्वरूपेणासामान्योक्तिः।"

अर्थात् 'कुलिश' में आया हुआ 'लिश' शब्द गत्यर्थक लिश् धातु से निष्पन्न हुआ है। तदनन्तर 'कु' यह पृथ्वीवाचक (या त्रिभुवन वाचक) शब्द पूर्व में रहते (सप्तमी तत्पुरुष समास होकर) 'कुलिशम्' पद बना है। जिसका अर्थ "पृथ्वी भर में, त्रि-जगत् में जाने वाला" यह है। इस प्रकार यह उक्ति स्वरूप से ही असामान्य है; विशिष्टता रखने वाली है।

इस प्रकार से यौगिक अर्थ लेने पर यह लाभ होगा कि वज्र, जो कि कामदेवरूपी (सजीव) अस्त्र से कुछ न्यूनता वाला अस्त्र है, उसकी सामान्य अस्त्रों की अपेक्षा से कुछ अधिक महत्ता प्रकट होने लगेगी। सामान्यतः अन्य अस्त्रों का प्रवेश सीमित है, पर यह वज्र तो तीनों लोकों में प्रवेश कर सकता, जा सकता है। अतः अब इस ऊँचे स्तर वाले वज्र की अपेक्षा से भी कामदेव रूपी अस्त्र (= भवान्)

---

१. वल्लभदेव की यह विशेषता पद पद पर दिखाई देती है कि व अन्य टीकाकारों की तरह मात्र कोश ग्रन्थों का निर्देश कर के संन्तुष्ट नही होते। अपितु वे व्याकरण-प्रक्रिया और उसके समर्थन से प्राप्त अर्थ की ओर इंगित करते रहते हैं।

और ज्यादा ऊँचे स्तर का है; महान् है, समर्थ है; इस प्रकार का भावार्थ प्राप्त होगा जो कामदेव को रिझाने के लिये उचित रहेगा।

इस रीति से यहाँ पर रसास्वादन में और भी चमत्कृति अनुभव की जा सकती है।

उपसंहार—इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण कुमारसम्भव की पञ्जिका टीका में मिलते हैं। यहाँ मात्र कतिपय प्रयोगों पर विमर्श करके यह सिद्ध करने का प्रयास रहा है कि वल्लभदेव अपने व्याकरणशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप काव्य में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति आदि देकर, क्वचित् यौगिक अर्थ निकालकर व्यञ्जना को गहन से गहनतम बना देते हैं। इससे परम्परागत रसास्वाद के अतिरिक्त एक और नया रसास्वाद सहृदयों को प्राप्त होता है।

—:०:—

मेघदूत में नायक-गत सात्विक गुण

डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव
संस्कृत विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कालेज
इलाहाबाद

नाट्याचार्यों ने नायकों में कुछ सामान्य गुणों[1] के अतिरिक्त सात्त्विक गुणों का उल्लेख किया है। ये सात्त्विक गुण मात्र नायक में ही अभीष्ट नहीं हैं अपितु नायकेतर अन्य पुरुष-पात्रों मे भी वाञ्छनीय हैं। इन सात्त्विक गुणों की विद्यमानता से नायक का चरित्र उत्कर्ष का आधायक होता है, किन्तु किसी एक ही नायक में इन सभी गुणों की एकत्र स्थिति अनिवार्य नहीं है। भरत मुनि ने इन गुणों का विवेचन सात्त्विक अभिनय के प्रसङ्ग में किया है। वे विविध अभिनयों में सात्त्विक को ही श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं—"नाट्य सत्त्वे प्रतिष्ठितम्" तथा सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते ॥"

सात्त्विक गुणों का विवेचन करने से पूर्व "सत्त्व" का विवेचन आवश्यक है। आचार्यों ने प्रायः सत्त्व की चार परिभाषायें की हैं—

१. आचार्य भरत के अनुसार—"सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मनषः समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति"[2] अर्थात् सत्त्व मन की समाधि अवस्था में निष्पन्न होता है।

२. आचार्य धनिक के अनुसार—"परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तः करणत्वं सत्त्वम्"[3] अर्थात् दूसरे के हृदय में स्थित सुख-दुःख की भावना में अन्तःकरण का अत्यन्त अनुकूल हो जाना सत्त्व कहलाता है।

३. भोजराज रज और तम से रहित मन को ही सत्त्व कहते हैं—"रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मन सत्त्वमिहोच्यते।"[4] उपर्युक्त लक्षणों में मन के भावना विशेष को ही सत्त्व कहा गया है किन्तु

४. आचार्य हेमचन्द्र सत्त्व की बिल्कुल भिन्न परिभाषा करते हैं—"सत्त्वं देहविकारस्तस्माज्जाता सात्त्विकाः" अर्थात् देहविकार को सत्त्व कहते हैं और उससे उत्पन्न भाव सात्त्विक कहलाते हैं।

---

१. त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥ ॥ सा० द० ३/३०

२. नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय, पृ० ४२६

३. दशरूपक ४/५ पर अवलोक

४. सरस्वतीकण्ठाभरण ५/२०

उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि आचार्य हेमचन्द्र के अतिरिक्त अन्य आचार्य किसी न किसी रूप में मानसिक भावना को सत्त्व स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में यही अर्थ अभिप्रेत भी है क्योंकि आचार्यों ने जिन सात्त्विक गुणों का उल्लेख किया हैं, वे नायकों की मानसिक स्थिति का ही बोध कराते हैं।

आचार्य भरत ने आठ सात्त्विक गुणों का उल्लेख किया है—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज। भरत का अनुकरण करते हुये परवर्ती आचार्यों धनंजय, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, शारदातनय, रामचन्द्रगुणचन्द्र ने भी आठ ही सात्त्विक गुण माने हैं। शारदातनय ने इन सात्त्विक गुणों को सात्त्विक गात्रारम्भानुभाव कहा है।

सम्प्रति मेघदूत में प्राप्य नायकगत सात्त्विक गुणों का निरूपण किया जा रहा है। यद्यपि मेघदूत में नायक अथवा पुरुष-पात्र के चित्रण का अभाव सा है। फिर भी मानवारोपण के कारण प्रकृति के विभिन्न उपादानों मेघ प्रभृति पदार्थों में पुरुषत्व का आरोप मानकर संभावित सात्त्विक गुणों का निरूपण किया गया है। कालिदास ने मेघदूत में नायक यक्ष, यक्ष-सामान्य, सिद्ध आदि अनेक प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया है किन्तु अभिज्ञान शाकुन्तल प्रभृति नाटकों तथा कुमार-सम्भव प्रभृति महाकाव्यों में पाये जाने वाले सात्त्विक गुणों की तुलना में मेघदूत में इन सात्त्विक गुणों का चित्रण अल्पमात्रा में हुआ है। कहीं-कहीं तो ये गुण स्पष्ट नहीं है तो कहीं पर एक ही पद्य में अनेक गुणों का चित्रण हुआ है।

मेघदूत में मात्र छः सात्त्विक गुणों शोभा, विलास, गाम्भीर्य,स्थैर्य, ललित और औदार्य का ही प्रयोग हुआ है। चूंकि आचार्यों ने सात्त्विक गुणों के लक्षण में प्रायः भरतमुनि को ही स्वीकार कर लिया है, अतः लक्षण—विवेचन में न उलझकर मेघदूत के पद्यों को सीधे लक्षण-–निकष पर परखने का प्रयास किया जा रहा है।

१. शोभा—

नायक में दक्षता, शौर्य, उत्साह, उच्च कार्यों में स्पर्धा, नीच कार्यों के प्रति घृणा का भाव रहना शोभा नामक सात्त्विक गुण कहलाता है।[२] महाकवि कालिदास ने मेघ—परिचय के निरूपण में शोभा गुण उपन्यस्त किया है। यक्ष मेघ से सन्देश-वहन रूपी याचना का औचित्य प्रतिपादित करता है। मेघ कुलीन है, उसका जन्म पुष्कर एवं आवर्तक जैसे लोकविख्यात वंश में हुआ है, ,वह देवराज इन्द्र का प्रधान सेवक है तथा अपनी इच्छा के अनुरूप रूप धारण करने में समर्थ

१. शोभा विलासौ माधुर्य स्थैर्य गाम्भीर्यमेव च।
ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः॥ नाट्यशास्त्र २४·३१

२. दाक्ष्यं शौर्यमथोत्साहो नीचार्थेषु जुगुप्सनम्।
उत्तमैश्च गुणैः स्पर्धायतः शोभेति सा स्मृता॥ ना० शा० २४·३२

है। ऐसे उच्च गुण वाले व्यक्ति से की गयी याचना यदि सफल भी न हो तो ठीक है किन्तु अधम व्यक्ति से याचना पूरी भी हो जाय तो भी उचित नहीं है—

जातं वंश भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां।
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ।। १·६

प्रस्तुत पद्य में मेघ का कुलीनत्व, इन्द्र का सेवकत्व तथा कामरूपत्व प्रतिपादित किया गया है जो उसके गुण सम्पन्नता की ओर संकेत करता है। मेघ पुरुष के अधिक गुण सम्पन्न होने के कारण उसमें दक्षता एवं उत्साह रूप पौरुष-गुण स्वाभाविक है तथा सन्देश-वहन रूपी उच्च कार्यों के प्रति उसकी स्पर्धा ध्वनित हो रही है। अतः वह शोभा गुण से सम्पन्न है।

यक्ष का यह कथन कि "नीच व्यक्ति से मांगना अपने को गिराना है" यक्ष के नीच के प्रति घृणा की द्योतक है। अतः कहा जा सकता है कि यक्ष शोभा-गुण सम्पन्न है।

मेघ अलका-यात्रा के प्रसंग में हिमालय पहुंचता है। संभव है वहाँ शरभ नामक अष्टापद मृगविशेष उसके मार्ग में बाधक बनें। यक्ष मेघ से ऐसे मृगों को अपने रास्ते से हटाने के लिये ओले बरसाने का अनुरोध करता है क्योंकि निष्फल कर्म में प्रवृत्त होने वाले का अपमान होना ही चाहिये—

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वांगभंगाय तस्मिन्
मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लंघयेयुर्भवन्तम्।
तान् कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातवकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ।। १·५७

नीच कार्यों के प्रति घृणा का भाव शोभा नामक सात्त्विक गुण के रूप में मान्य है। यहाँ शरभ नामक जन्तु-विशेष यदि मेघ को बाधा पहुंचाने का प्रयास करते हैं तो उसे अपने मार्ग से हटाने के लिये कहा गया है क्योंकि वे निरर्थक अथवा नीच कार्य में संलग्न हैं। इस प्रकार यहाँ नीच कार्य में प्रवृत्त शरभों के प्रति मेघ का घृणा भाव प्रदर्शित किया गया है जो मेघ की शोभा गुणसम्पन्नता का द्योतक है।

२. विलास

नायक की दृष्टि में धीरता, गति में विचित्रता और उसकी वाणी में स्मित का होना विलास नामक सात्त्विक गुण है।[1] कालिदास ने उत्तरमेघ में मेघपुरुष में विलास गुण चित्रित किया है। यक्ष मेघ को अलका स्थित अपने घर की पहचान

१. स्थिर संचारिणी दृष्टिर्गतिर्गोवृषमाञ्चिता।
स्मितपूर्वं तथा वाचो विलास इति कीर्तितः ।। ना० शा० २४·३३

बताने के अनन्तर अनुरोध करता है कि मेरे घर के वातायनपर बैठकर एक प्रहर के बाद सबसे पहले अपने जल की बूँदों से ठंडी हवाओं से यक्षी को जगाना, और जब वह स्वस्थ चित्त हो जाये और तुम्हारी ओर देखने लगे तो बिजली को भीतर ही धारण किये हुये धीरतापूर्वक गर्जनरूपी वचनों से बातचीत प्रारम्भ करना—

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ।। २·३८

यहाँ यक्ष ने मेघ से सर्वप्रथम जल की बूंदों से शीतल हवाओं से यक्षी को उठाने का निवेदन किया है । उठाते समय मेघ को अपनी बिजली को अन्दर छिपाये रखना है अन्यथा बिजली की चमक से यक्षी की आँखे चकाचौंध हो जायेंगी। इससे मेघ की दृष्टि में वीरता का बोध हो रहा है । प्रस्तुत पद्य में "धीर" शब्द का भी प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य है कि उसे स्थिर होकर उचित रूप से बात करना है । उसे मन्द गर्जन ही करना है, जो उसकी बोल-चाल में स्मित का संकेतक है । इस प्रकार यहाँ विलास गुण परिलक्षित हो रहा है ।

३. गाम्भीर्य—

हर्ष, भय, शोक, क्रोध आदि भावावेशों के आने पर भी जब मुखाकृति पर किसी प्रकार का मानसिक विकार परिलक्षित नहीं होता है तो उसे गाम्भीर्य नामक सात्त्विक गुण कहा जाता है ।[1] महाकवि कालिदास ने यक्ष को गाम्भीर्य सात्त्विक गुण सम्पन्न निरूपित किया है । यक्ष आषाढ़ के प्रथम दिन रामगिरि की चोटी पर लगे हुये कामोत्पादक मेघ के आगे किसी तरह से खड़े होकर आँखों के अन्दर के आँसुओं को रोक लेता है—

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो—
रन्तर्वाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।। १·३

यक्ष प्रिया वियोग के कारण शोक-सन्तप्त है । अतएव वह रामगिरि के शिखर पर स्थित मेघ-खण्ड को देखकर चिन्ता-निमग्न हो जाता है और मेघ के सामने किसी प्रकार से खड़ा रह पाता है । वह विरहजन्य शोक से पीड़ित होने के कारण दिन-रात प्रिया के विषय में सोचता रहता था । अतः आँसुओं का आना स्वाभाविक था किन्तु धीरोदात्त होने के कारण वह अपनी पीड़ा व्यक्त नहीं होने देता है, आँसुओं को भीतर ही रोक लेता है । इस प्रकार शोक रूपी भावावेश से युक्त होने पर भी उसकी मुखाकृति पर मानसिक विकार परिलक्षित नहीं होता । अतः यक्ष गाम्भीर्य नामक सात्त्विक गुण से युक्त है ।

१. यस्य प्रभावादाकारा रोषहर्षभयादिषु ।
भावेषु नोपलभ्यन्ते गाम्भीर्यमिति शसितम् ।। ना० शा० २४·३६

४. स्थैर्य (धैर्य)

बड़े-बड़े विघ्नों के आ जाने पर भी अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं होने वाले गुण को नायक का स्थैर्य अथवा धैर्य नामक सात्त्विक गुण कहा जाता है।[1] मेघ के रामगिरि से अलकानगरी की ओर प्रस्थान करने पर मार्ग में सिद्धांगनाओं के द्वारा देखे जाने से उसका उत्साह बढ़ जाता है। वर्द्धितोत्साह मेघ को यक्ष का निर्देश है कि तुम मार्ग में दिग्गजों की मोटी-मोटी सूंड़ों के प्रहारों से बचते हुए उत्तर दिशा की ओर उड़ जाना —

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः
दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं।
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्॥ १·१४

यक्ष का अनुरोध है कि जब तुम रामगिरि से उड़ोगे तो आगे चलने पर तुम्हें दिग्गजों के सूंड़ों के प्रहारों का सामना करना पड़ेगा। तुम उनसे अवश्य बचना अन्यथा छिन्न भिन्न हो जाओगे और गन्तव्य तक नहीं पहुँच पाओगे। इस प्रकार मेघ-पुरुष में विघ्नों के आने पर भी अपने कर्त्तव्य से विचलित न होने का सामर्थ्य ध्वनित हो रहा है। अतः प्रस्तुत पद्य में मेघ के स्थैर्य (धैर्य) नामक सात्त्विक गुण का चित्रण हुआ है।

यहाँ मेघ के उत्साह (गमनोत्साह) का चित्रण होने के कारण शोभा नामक सात्त्विक गुण भी है।

५. ललित—

जहाँ बोल-चाल तथा वेश-भूषा में मधुरता हो और शृंगार के अनुरूप चेष्टायें की जायें उस प्रकार के नायक के गुण को ललित नामक सात्त्विक गुण कहा जाता है।[2] आचार्य भरत के अनुसार इस प्रकार के गुण में बुद्धि विलास की कोई आवश्यकता नहीं है और नायक का स्वभाव भी निर्विकार अथवा सुकुमार बना रहता है।

मेघ जब रामगिरि से आगे बढ़ता है तो वांबी से निकलने वाली इन्द्रधनुषी छटा से उसका श्यामल शरीर और अधिक शोभायुक्त हो जाता है—

रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता
द्वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्याम वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥ १·१५

---

१. धर्मार्थकामसंयुक्ताच्छुभाशुभसमुत्थिमात्।
व्यवसायादचलनं स्थैर्यमित्यभिधीयते॥ ना० शा० २४·३५

२. अशुद्धिपूर्वकं यत्तु सुकुमारस्वभावजम्।
शृंगाराकारचेष्टत्वं ललितं तत् प्रकीर्तितम्॥ ना० शा० २४·३७

इन्द्रधनुष के कारण नीलवर्ण मेघ की शोभा में वृद्धि हो जाने के कारण यहाँ मेघ की वेश-भूषा में मधुरता परिलक्षित हो रही है। अतः मेघ में ललित गुण का किञ्चिन्मात्र समावेश है।

६. औदार्य—

स्वजन तथा परजन दोनों के प्रति दान की भावना एवं प्रिय भाषण तथा सबके प्रति उदार व्यवहार एवं समता के भाव को औदार्य नामक सात्त्विक गुण कहा जाता है।[1]

आषाढ़ के अनन्तर श्रावण मास के सन्निकट होने पर अपनी प्रिया के जीवन के लिये चिन्तित यक्ष मेघ के द्वारा प्रिया के पास सन्देश भेजने के उद्देश्य से मेघ को चमेली के ताजे पुष्पों से अर्घ देकर प्रीतिपूर्वक वचनों से उसका स्वागत करता है—

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ १.४॥

यहाँ यक्ष मेघ से सन्देश वहन रूप कार्य के निवदन के पूर्व शिष्टाचार का पालन करता है। उसमें मेघ के लिये समता का भाव है। वह मेघ को भाई मानता है। वह मेघ का प्रिय भाषण के द्वारा अर्थात् प्रेममय वचनों से स्वागत करता है। मेघ के प्रति ताजे चमेली के फूलों का अर्घ देना, उसके दान-भावना का परिचायक है। इस प्रकार यक्ष में औदार्य नामक सात्त्विक गुण दृष्टिगत होता है।

उत्तर मेघ में सन्देश-कथन के अनन्तर यक्ष के द्वारा सन्देश-वहन रूपी कार्य के निर्वाह सम्बन्धी जिज्ञासा प्रकट करने पर मेघ की मौन स्वीकृति उसके औदार्य गुण की ओर संकेत करती है—

कच्चित् सौम्य ! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः।
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थं क्रियैव ॥ २.५४

मेघ का बिना कुछ कहे ही चातकों को जल दान देना, दूसरे के लिये सब कुछ करने को तैयार रहना, उपकार के लिये सदैव तत्पर रहना सात्त्विक गुण के द्योतक हैं।

इसके अतिरिक्त उच्च, श्रेष्ठ एवं समृद्धिमान् आम्रकूट पर्वत द्वारा थके हुए अपने मित्र मेघ को शिरोधार्य करना आम्रकूट पर्वत को औदार्य गुण सम्पन्न सिद्ध करता है—

---

१. दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम्।
स्वजने वा परे वाऽपि तदौदार्यमिति स्मृतम् ॥ ना० शा० २४/३८

त्वामासार प्रशमनवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना ।
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ।
नक्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाम
प्राप्तेमित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ।। १.१७

विरहिणी निर्विन्ध्या नदी की कृशता दूर करने के लिये मेघ का जलदान एवं हिमालय के वन में लगी हुई आग से जलती हुई चमरी मृगों के पूँछों को बुझाने के लिये मेघ का सहस्र जल धारायें प्रवाहित करना औदार्य गुण सम्पन्नता की ओर संकेत करता है—

वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिनासा त्वयैवोपपाद्यः ।। १.३०
तं चेद् वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपित चमरीबालभारो दवाग्निः ।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारा सहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।। १.५६

उपर्युक्त पद्यों के अतिरिक्त अन्य पद्यों में भी यक्ष एवं मेघ के सात्त्विक गुणों का निरूपण हुआ है किन्तु वे अस्फुट हैं, उनमें उपर्युक्त सात्विक गुणों का समुचित परिपाक नहीं दृष्टिगत होता । अतएव तत्तद् पद्यों की विवेचना नहीं की गयी है ।

—: ० :—

भवभूति के नाटकों में उपलब्ध ध्वन्यात्मक शब्द

डॉ० साधना
प्रवक्ता संस्कृत विभाग
इस्माइल नेशनल पी० जी० कालिज,
(मेरठ)

संस्कृत भाषा में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो किसी ध्वनि के अनुकरण पर बने हैं। यह अनुकरण कहीं तो सजीव पदार्थों की ध्वनि का होता है और कहीं निर्जीव पदार्थों की। संजीव पदार्थों का अभिप्राय मनुष्य, पशु एव पक्षियों की ध्वनि के अनुकरण पर बनने वाले, ध्वन्यात्मक शब्दों से है, जैसे "कुररी", "कुक्कुर", कुरर", "कुक्कुट" आदि। इसी प्रकार निर्जीव वस्तुओं से उत्पन्न होने वाली ध्वनि के अनुकरण पर भी ध्वन्यात्मक शब्द बनते हैं जैसे घंटियों की "किण-किण" की ध्वनि से बना "किङ्किणी" शब्द आदि। अतः अनुकरण पर आधारित होने के कारण से ध्वन्यात्मक शब्दों को अनुकरण मूलक ध्वन्यात्मक शब्द कहते हैं।

अनुकरण परक शब्दों के अतिरिक्त कतिपय ध्वन्यात्मक शब्द विस्मयादिबोधक होते हैं अर्थात दुःख, भय, शोक, विस्मय आदि उत्तेजना की अवस्था में मानव के मुख से हठात् निकलने वाली ध्वनि को विस्मयादिबोधक ध्वन्यात्मक पद कह सकते हैं। ये ध्वनियां अस्पष्ट एवं अव्यक्त होने पर भी सार्थक होती हैं तथा अर्थ को अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती हैं। यही कारण है कि संस्कृत-भाषा में कवियों ने इनका प्रचुर प्रयोग किया है।

अतः ध्वन्यात्मक शब्दों को हम निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं—

(१) सजीव पदार्थों की ध्वनि के अनुकरण पर बनने वाले ध्वन्यात्मक शब्द।

इसको भी दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) मानव के मुख से निकलने वाली ध्वनि के अनुकरण पर बने ध्वन्यात्मक शब्द।

(ख) पक्षियों की ध्वनि के अनुकरण पर बने ध्वन्यात्मक शब्द।

(२) निर्जीव पदार्थों की ध्वनि के अनुकरण पर बने ध्वन्यात्मक शब्द।

(३) विस्मयादि-बोधक ध्वन्यात्मक शब्द।

महाकवि भवभूति ने अपने तीनों नाटकों में ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। भवभूति द्वारा प्रयुक्त ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग कहीं-कहीं

तो इतना अधिक प्रभावशाली है कि शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का द्योतन करती चलती है। गोदावरी नदी का वर्णन हो या युद्ध की विभीषिका का अथवा कौञ्च पर्वत का वर्णन हो या कलकल बहते निर्झरों का, सर्वत्र ही कवि की ध्वन्यात्मक शब्दावली अर्थ का द्योतन कराती चलती है और सम्बन्धित वर्णन का दृश्य नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाता है।

(१) सजीव पदार्थों की ध्वनि के अनुकरण पर बनने वाले ध्वन्यात्मक शब्द

(क) मानव मुख से निकलने वाली ध्वनि के अनुकरण पर बने ध्वन्यात्मक शब्द—

किलकिला—

प्रसन्नता अथवा हर्ष की अवस्था में मनुष्य के मुख से "एक प्रकार की अव्यक्त ध्वनि" निकला करती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर संस्कृत का "किलकिला" स्त्री० शब्द बना है। महाकवि भवभूति ने मा० मा० ५·११, महा० च० पृ० २६२ में "किलकिला" शब्द का प्रयोग "किलकिल शब्द वाले" इस अर्थ में किया है।

कलकल—

संस्कृत में "कलकल" पुं शब्द "कोलाहल" अर्थ में या "कलकल की ध्वनि" अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रायः जब जन समुदाय कहीं पर एकत्रित होता है तो वहाँ उनके शोर से, एक अस्पष्ट ध्वनि निःसृत होती है जो "कलकल" जैसी होती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर बनने वाले "कलकल" पुं० शब्द का प्रयोग भवभूति ने महा० च० पृ० ३३, ३०, २६२, ३०० मा० मा० पृ० २१७, ३५६, २४६, १३०, २६०, ३६१, ५·११, उ० रा० पृ० ४७८, ३५४, ५·६, ४७७, ४७८ ३०४, ३५१, २·३० में किया है।

कोलाहल—

"कलकल" की ही भांति "कोलाहल" शब्द भी एक अव्यक्त ध्वनि है तथा एकत्रित हुये जनसमुदाय के शोर से उत्पन्न होने वाली अस्पष्ट ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। महाकवि भवभूति ने भी "कोलाहल" शब्द का प्रयोग मा० मा० पृ० १३०, २६०, २१७, ३५६, ५·११ तथा उ० रा० पृ० २·३०, अंक ७ के ५७ वाक्य में, एवम् महा० च० पृ० २७२ में प्रयुक्त किया है।

कटकटायमान—

संस्कृत-साहित्य में "कटकट" पुं० शब्द का प्रयोग "कटकट की ध्वनि" अर्थ में किया है। प्रायः दाँतों से जब कोई पदार्थ काटा जाता है तो "कटकट" की ध्वनि निकलती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर बना "कटकटायमान" शब्द का प्रयोग भवभूति ने मा० मा० में पृ० १६२ पर किया है।

थरथरायमान —

डर से कांपते हुये व्यक्ति के शरीर से निकलने वाली "थरथर" की अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण पर "थरथर" शब्द बना है। इसी "थरथरायमान" (थरथर+क्यङ्+शानच्) का प्रयोग भवभूति ने "थरथर कांपते हुये" अर्थ में मा० मा० में पृ० १५२ पर किया है।

मडमडायिता—

जब किसी पशु आदि की गर्दन मरोड़ कर उसे मारा जाता है तो उसमें से "मडमड" की ध्वनि निकलती है। उ० रा० के अंक ४ के वाक्य १० में भी बछिया की गर्दन मरोड़ कर मारने के अर्थ में "मडमडायिता" (मडमडा+क्यप्+क्त+टाप्) शब्द का प्रयोग किया है।

(ख) पक्षियों की ध्वनि के अनुकरण पर बने ध्वन्यात्मक शब्द

कूज—

संस्कृत-साहित्य में "कोयल" की ध्वनि के लिये कूज्" धातु का प्रयोग किया जाता है। कोयल जब बोलती है तो 'कुहू-कुहू" की ध्वनि निकलती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर 'कूज्" शब्द बना है। भवभूति ने भी उ० रा० २·६, २५, २६ में "कूजत्" (कूज्+शतृ) का "कूजती हुई" अर्थ में, "तथा कूजितैः का" मा० मा० ५·२० में, "कूजितम्" का मा० मा० ६·७ में प्रयोग किया है।

कोकिला—

संस्कृत-साहित्य में कोयल के लिये "कोकिल" पुं० और 'कोकिला" स्त्री० शब्द प्रचलित हैं। "कोकिल" शब्द उसकी ध्वनि के अनुकरण पर बना प्रतीत होता है। भवभूति ने मा० मा० पृ० १२६–३० तथा ३·१२ में "कोकिल" शब्द का प्रयोग किया है।

केका——

संस्कृत में "केका" "मोर की आवाज" के लिये प्रयुक्त होता है। मोर जब बोलते हैं तो अपनी आवाज को खींचते हैं, जिसे केका" कहते हैं। इसी ध्वनि के आधार पर "केका" शब्द बना है। भवभूति ने भी मा० मा० में २५, ६५, ४२, ३०, पृ० ४०४ में इसका प्रयोग "मोर की ध्वनि" अर्थ में किया है।

कुक्कुट—

संस्कृत में "कुक्कुट' मुर्गे को कहते हैं। "कुक्कुट" पुं० शब्द "कुट-कुट" की ध्वनि के अनुकरण पर बना प्रतीत होता है। महाकवि भवभूति ने उ० रा० १·२·६ में इसी अर्थ में "कुक्कुट" शब्द का प्रयोग किया है।

कुररी—

संस्कृत में विशिष्ट मादा चिड़िया के लिये "कुररी" शब्द का प्रयोग किया जाता है। "कुररी" शब्द" की ध्वनि के अनुकरण पर बना प्रतीत होता है। महाकवि ने मा० मा० ५·२० में "कुररी" का प्रयोग किया है।

कुररः —"कुररी" की तरह ही "कुरर" पुं॰ का प्रयोग भी संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध होता है। संभवतः "कुरर" शब्द नर चिड़िया के लिये प्रयुक्त होता है। मा॰ मा॰ पृ॰ ४१४ पर "कुरर" "चिड़िया" में प्रयुक्त हुआ है।

कुक्कुभः —

"कुक्कुट" की तरह ही संस्कृत में "कुक्कुभः" पुं॰ शब्द का प्रयोग एक पक्षी के अर्थ में मिलता है। भवभूति ने भी मा॰ मा॰ पृ॰ ३८४ में "कुक्कुभ" शब्द का प्रयोग "कुक्कुभ" नामक पक्षी अर्थ में किया है।

(२) निर्जीव पदार्थों की ध्वनि पर बने ध्वन्यात्मक शब्द

निर्झर— संस्कृत-साहित्य में "झरने" के लिये अनेक शब्द प्रचलित हैं, जैसे "निर्झर", "निर्झरिणी" (स्त्री॰), 'झर", "झरी" "झरि" आदि "निर्झर" शब्द, पहाड़ से नीचे की ओर धारा के रूप में वेग के साथ गिरते हुये जल की 'झर-झर" ध्वनि से बना है। महाकवि भवभूति ने अपने नाटकों में "निर्झर" के लिये प्रचलित सभी शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे "निर्झर-झरना" अर्थ में, महा॰ च॰ ७·११ में, महा॰ च॰ के ६ १४ में "झरी" स्त्री॰ "प्रवाह" अर्थ में महा॰ च॰ के ही ६ ३१ में 'झरीभिः", "प्रवाह" अर्थ में उ॰ रा॰ २ २५ में "निर्झरिणी" का "नदी" अर्थ में, उ॰ रा॰ २·१४ में 'निर्झराणां" का "झरनों की" अर्थ में उ॰ रा॰ २·२० में "निर्झरिण्यः" का "नदियां" अर्थ में प्रयोग किया है।

झंकारः —

संस्कृत-साहित्य में "झन-झन" की ध्वनि अर्थ में "झंकार" शब्द का प्रयोग प्रचलित है। "आभूषणों" या "घंटियों" आदि से निकलने वाली ध्वनि "झन-झन" जैसी होती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर "झण्" धातु या ससे बनने वाले अन्य शब्दों का प्रचलन हुआ तथा "झंकार", "झन-झन" आदि शब्द बने। महाकवि भवभूति ने उ॰ रा॰ के छठे अंक के श्लोक में "झणज्झणित" (झणज्झण + इतच्) का प्रयोग "झन-झन शब्द करते हुये" अर्थ में, उ॰ रा॰ ५ ५ में "झणझणायित" (झणझण + क्यष् + क्त) का प्रयोग किया है। महा॰ च॰ में "झंकारिभिः" का "झकारों से" अर्थ में, उ॰ रा॰ २·१४ में "झाङ्कृतैः" (झाङ् + कृ + क्त) का "झंकारों से" अर्थ में किया है।

किङ्किणी —

संस्कृत-साहित्य में "किङ्किणी" शब्द का प्रयोग "घुंघरु" या "छोटी घण्टी" (जिससे "किण-किण" की ध्वनि निकलती है) के अनुकरण पर "किङ्किणी" शब्द बना प्रतीत होता है। महाकवि भवभूति ने भी 'किङ्कणी' शब्द का प्रयोग "घुंघरू" एवं "छोटी घण्टी" अर्थ में उ॰ रा॰ ५·५, ६·१, मा॰ मा॰ ५·४, पृ॰ ५३, महा॰ च॰ १·३५ में किया है।

टङ्कारः —

संस्कृत-साहित्य में 'टङ्कार" शब्द का प्रयोग "प्रत्यंचा की ध्वनि" आदि

के लिये किया जाता है। धनुष की डोरी को खींचकर छोड़ देने पर उसमें से "टन" की ध्वनि निकलती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर "टङ्कार" शब्द बना है। भवभूति ने "टङ्कार" शब्द का प्रयोग "टन-टन की ध्वनि" अर्थ में उ० रा० ५·३, मा०मा० पृ० १६२ महा० च० ७·२० में किया है।

नदी, नदति, नद—

बहते हुए जल से 'नद-नद" की ध्वनि निकलती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर 'नदी' यथा 'नदति' (नद धातु) से बने हैं। महाकवि ने उ० रा० पृ० १०८ २·२४ में, "नदी', का तथा उ० रा० ३·१८ में नदति ("शब्द करता है") क्रिया रूप का प्रयोग किया है। उ० रा० २·३० में (नद+शतृ) रूप का प्रयोग "शब्द करती हुई" इस अर्थ में किया है।

बुदबुद :—

संस्कृत-साहित्य में "बुलबुले" के लिये "बुदबुद" पुं० शब्द का प्रयोग किया जाता है। पानी में उठता हुआ बुलबुला अथवा आँच पर पकती हुई किसी वस्तु में उठते "बुलबुले" में से "बुदबुद" की ध्वनि निकला करती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर बने "बुदबुद" शब्द का प्रयोग महाकवि भवभूति ने उ० रा० ३·४७ तथा महा० च० १·३६, पृ० ३७ में "बुदबुद की ध्वनि" अर्थ में किया है।

गदगदम्—

सस्कृत-साहित्य में बहते हुए जल की ध्वनि के लिये "गदगद" नपुं० शब्द का प्रयोग प्रचलित है। महाकवि भवभूति ने भी उ० रा० २·३० में तथा मा० मा० पृ० ३८० में "अस्पष्ट ध्वनि" अर्थ में "गदगद" का प्रयोग किया है।

क्वण्

संस्कृत-साहित्य में "क्वण्" धातु "शब्द करना" या "ध्वनि करना" अर्थ में आती है। भवभूति ने "क्वण्" का प्रचुर प्रयोग तीनों नाटकों में किया है। मा० मा० ५.४ में "क्वाण्" (क्वण+घञ्) शब्द का, उ० रा० ३·७ में "निक्वाणे" (नि+क्वण्+घञ्+सप्तमी एक०) का प्रयोग संज्ञा रूप में, उ०रा० ३·२४ में "क्वणन्तु', (क्वण् प्रथमा बहु०) का क्रियापद रूप में, उ० रा० ५·२६ तथा ६·१ में "क्वणित" (क्वण्+क्त) का क्त प्रत्ययान्त रूप में, उ०रा० ५·५ में, मा० मा० ८·७, महा० च० १·३५, ५·१९ में "क्वणत्" (क्वण्+शतृ) का शतृ प्रत्ययान्त के रूप में 'ध्वनि करती हुई" या "शब्द करती हुई" अर्थ में प्रयोग किया है।

कङ्कण:—

संस्कृत-साहित्य में "कंगन" अर्थ में "कङ्कण" पु०, नपुं० शब्द का प्रयोग किया जाता है। "कन-कन" की ध्वनि से "कङ्कण" शब्द बना है। महाकवि भवभूति ने "कङ्कण" शब्द का प्रयोग "कंगन" अर्थ में उ० रा० १·१२, ३·३६, ५·१, ६·१ में, मा० मा० ९·९ ६·१४ में तथा महा० च० १·२५ में किया है।

दुन्दुभिः —

संस्कृत-साहित्य में "नगाड़े" (वाद्य विशेष) के लिये "दुन्दुभि" शब्द का प्रयोग मिलता है। नगाड़े को बजाने पर उसमें से "दुम्-दुम्" की ध्वनि निकलती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर "दुन्दुभि" शब्द बना है। भवभूति ने महा० च० ५.६१ में "दुन्दुभि" शब्द का प्रयोग किया है।

दुनदुमा—

संस्कृत-साहित्य में "दुन्दुमा" शब्द 'दुम्दुम्' की ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। महाकवि भवभूति ने उ० रा० ६.१ में "दुन्दुमायितम्" (दुन्दुमा + क्यष् + डाच् + क्त) शब्द का प्रयोग "दुम-दुम" शब्द अर्थ में किया है।

गुलगुलायमान—

संस्कृत-साहित्य में "गुलगुल" शब्द का प्रयोग "गड़-गड़" की ध्वनि अर्थ में किया जाता है। महाकवि भवभूति ने भी इसी अर्थ में "गुलगुलायमान" (गुलगुल + क्यष् + डाच् + शानच्) शब्द का प्रयोग उ० रा० के अंक ६ वाक्य ९ में किया है।

धात्कृति—

संस्कृत-साहित्य में "धात्कृतिः" शब्द "धा-धा" की आवाज करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। "धा-धा" की ध्वनि के अनुकरण पर बने "धात्कृति" शब्द का प्रयोग भवभूति ने मा०मा० ५.१९ में इसी अर्थ में किया है।

झञ्जा—

संस्कृत-साहित्य में "झञ्झा" स्त्री शब्द का प्रयोग प्रचण्ड वायु" अर्थ में प्रचलित है। जब "प्रचण्ड" वायु चलती है या बवंडर आता है तो उसमें "सांय-सांय" या "झांय-झांय" की ध्वनि होती है। इसी से "झञ्झा" शब्द बना है। महाकवि भवभूति ने महा० च० ६.३६ तथा मा०मा० ९.१७ में "प्रचण्ड वायु की ध्वनि" अर्थ में इसका प्रयोग किया है।

क्रकचः —

संस्कृत-साहित्य में "आरे" के लिये "क्रकच" पु० शब्द का प्रयोग किया जाता है। आरे से जब लकड़ी आदि कोई वस्तु काटी जाती है तो उसमें से "कच-कच" की ध्वनि निकलती है। इसी ध्वनि के अनुकरण पर आरे के लिये "क्रकच" शब्द बना प्रतीत होता है। भवभूति ने उ० रा० ४.३ में तथा महा० च० ५.१९, ६.२२ में "आरे" अर्थ में "क्रकच" का प्रयोग किया है।

रणरण—

संस्कृत-साहित्य में "रणरण की ध्वनि" अर्थ में "रणरण" का प्रयोग किया जाता है। किसी आभूषण जैसे पाजेब आदि के रगड़ने या परस्पर टकराने से "रन-रन" जैसी ध्वनि निकलती है, जिसके अनुकरण पर यह शब्द बना है। महाकवि भवभूति ने "रणरण शब्द का प्रचुर प्रयोग अपने नाटकों में, विशेषकर मा०मा० में किया है। उ०रा० ५·२६ में धनुष की प्रत्यंचा की आवाज के लिये "रणत्कार' शब्द का तथा (रण+शतृ+कृ+अण्) मा०मा० ५·४ में भी इसका प्रयोग किया है। मा०मा० के पृ० ५३ पर "रणरणायमान" का (रणरण्+क्यष् +शानच्) तथा "रणरणत्कार" (रणरण्+शतृ+कृ+अण्), मा० मा० ३·१२ में "रणत्" (रण्+शतृ) का तथा "रणित" (रण्+इतच्) का प्रयोग "रन-रन शब्द करते हुए" इस अर्थ में किया है।

घूर्णमान—

संस्कृत साहित्य में "घूमना" अर्थात् "चक्कर खाना" अर्थ में "घूर्ण" धातु का प्रयोग किया जाता है। जब कोई वस्तु गोल चक्कर खाती हुई घूमती है तो उसमें से "घुर-घुर की ध्वनि निकलती है, जिससे "घूर्ण" शब्द बना प्रतीत होता है। भवभूति ने "घूर्णमान" (घूर्ण+शानच्) शब्द का प्रयोग "घूमता हुआ" अर्थ में मा०मा० पृ० २६३, उ०रा० अंक ६ वाक्य ४ तथा ६ में किया है।

घर्घरः —

"घर-घर" की ध्वनि के अनुकरण पर बने "घर्घर" पुं० शब्द का प्रयोग "घर्घर की ध्वनि" अर्थ में कवि ने उ०रा० ४·२६, मा०मा० ५·१९, पृ० १६२, ३२६, महा०च० ३·२९ में किया है।

घूत्कार—

"घू-घू" की ध्वनि के अनुकरण पर बना "घूत्कार" पुं० शब्द का प्रयोग "घू-घू की ध्वनि" अर्थ में भवभूति ने मा०मा० ५·१९ में किया है।

घणत्कार—

घन्टे इत्यादि पर प्रहार करने पर "घन-घन" की ध्वनि निःसृत होती है, जिसके अनुकरण पर "घणत्कार" शब्द बना। महाकवि भवभूति ने "घणत्कार" (घण+शतृ+कृ+अण्) "घन-घन शब्द से" इस अर्थ में मा० मा० ५·३४ में किया है।

धमधमायमान—

जोर से पैर को पटकते हुए चलने पर या किसी भारी वस्तु पर प्रहार करने पर "धम-धम" की ध्वनि निकलती है इसी। के अनुकरण पर बने 'धम-धम" की ध्वनि करते हुए" अर्थ में "धमधमायमान (धम्धम्+क्यष्+शानच्) शब्द का प्रयोग महाकवि भवभूति ने मा मा० पृ० ३२६ पर किया है।

(३) विस्मयादि बोधक ध्वन्यात्मक शब्द :

विस्मय आदि की अवस्था में मानव मुख से प्राय: "अयि", "अये", "अहो", "आ:" आदि ध्वनियां नि:सृत हो जाया करती हैं । संस्कृत-भाषा में कवियों ने अपने साहित्य में इनका प्रयोग किया है । महाकवि भवभूति ने भी अपने तीनों नाटकों में इनका प्रयोग किया है,

जैसे—अयि-अरे, अये-अरे, अहो-अरे, आ:-अरे आदि ।

खेदसूचक—ध्वन्यात्मक शब्द :—

हा-हाय, हा हा-हाय, अहह-अरे (हाय)

सम्बोधन परक ध्वन्यात्मक शब्द :—

भो-अरे, भो भो-अरे हहा-अरे (क्रोध में)

—:o:—

महाकवि भवभूति की कृतियों का दार्शनिक विश्लेषण

कु० चक्षप्रभा
५, भरतपुर हाउस, आगरा-२

भवभूति रससिद्ध कवि हैं। नाट्य-शिल्प सूत्रों के आधार पर उन्होंने रस सिद्धान्त की तात्त्विक विवेचना की है। नाटक को हितोपदेशक माना जाता है और हितोपदेशक नाटक में लोक हितकारी तत्त्व अपने आप परिदृष्ट होने लगते हैं।[१] दर्शन हमारे समाज और संस्कृत सभ्यता का पूरक है।[२] तत्त्व चिन्तन से समाज की संस्कृति का उदय होता है। अतः नाट्य शिल्प का भारतीय दर्शन से गहन सम्बन्ध है। कला के मूल में ब्रह्मवाद की दर्शन विद्या विद्यमान है। काव्य की समस्त विधाओं में नाट्य शिल्प को प्राथमिकता दी जाती है। अतः स्वतन्त्र कला शास्त्र के अनुसार नाट्य का रस ब्रह्म ही नाट्य ब्रह्म है।[३]

विभिन्न दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में भवभूति की दार्शनिक मान्यताओं के विषय में चर्चा करने से पूर्व भारतीय दर्शन की विविध विचारधाराओं का यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है। भारतीय षड्दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त का समावेश है। इसके अतिरिक्त अन्य दर्शनों में श्रौतचार्वाक बौद्ध, जैन दर्शन भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने स्थल-स्थल पर उपर्युक्त सभी दर्शनों के विविध तत्त्वों का विवेचन किया है। इनके नाट्य शिल्प से प्राप्त संकेतों की समीक्षा से यह विदित होता है कि यह वेदान्ती थे, क्योंकि इन्होंने अपने व्यवहार में वैदिक क्रियाओं को अधिक महत्त्व दिया है। वेदान्त के विवर्त एवं शब्द ब्रह्म का उल्लेख भवभूति ने अनेक स्थलों पर किया है। उन्होंने रामायण को शब्द ब्रह्म का विवर्त माना है।[४] यों तो इनके नाटकों में श्रौत, योग, मीमांसा आदि दर्शनों के विचार भी दृष्टिगत होते हैं। यह सांख्य दृष्टा भी थे, इनके नाटकों में सभी दार्शनिक

१. नाट्य आफ भरतविद कमेन्टरी आफ अभिनव गुप्ता, पृष्ठ सं० ३१८

२. प्रदीपः सर्वविधानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकीमता॥
कौटिल्य अर्थशास्त्र ११/२१

३. स्वतंत्रकला शास्त्र, पृ० ६२५-६३०

४. प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमिति हासं रामायणं प्रणिनाय।
२/वाक्य सं० २४, उत्तररामचरित

विचारों का स्फुट संकेत मिलता है। भवभूति ने सभी दर्शनों के विस्तृत अध्ययन के पश्चात् ही अपने नाटकों की रचना की होगी ऐसा जान पड़ता है।

दर्शन हमारी संस्कृति व सभ्यता के सार हैं और नाट्य इसका परिचायक है। भवभूति के शब्दों में अपने हार्दिक सवेदन का सार्वभौमिक प्रसार करना ही नाट्य-शिल्प का विधान है।[1] सुख-दुःख आन्तरिक व बाह्य कारणों से उद्बुद्ध होते हैं, यह दाशनिक सत्य है और इस सत्य को अभिव्यक्त करने में भवभूति ने मनोवैज्ञानिक विधा का सहारा लिया है। ब्रह्म तत्व नित्य है, और जगत के सुख दुःख अनित्य हैं। मनुष्य अपने कर्मानुसार फल भोगता है और कर्मों का फल टाला नहीं जा सकता है।[2] कर्मों के अनुसार ही मनुष्य सुख दुःख प्रकाश अन्धकार आदि लोकों को प्राप्त करता है।[3] अतः कवि की रचनाओं में हमें अनेक दार्शनिक विचारों का समावेश मिलता है इससे उनका दार्शनिक व्यक्तित्व उभर कर हमारे समक्ष उपस्थित होता है।

भवभूति के नाटकों में प्रतिफलित दार्शनिक तत्व

मुख्य रूप से सत्यभूत एवं तात्त्विक अन्वेषण, सृष्टि की चेतनता-अचेतनता का आध्यात्मिक अध्ययन ही दर्शन माना जाता है।[4] कवि ने आनन्द, सुख एवं सौन्दर्य को परमतत्त्व एवं ब्रह्म का पर्याय माना है तथा उनके नाटकों की उपलब्धि आनन्द एवं सौन्दर्य ही है। कवि ने अपने साहित्यिक ग्रन्थों में उसी चिरस्थाई आनन्द एवं तेजमय ब्रह्म की आराधना में अपने धार्मिक जीवन को दर्शाने की चेष्टा की है। उसी ब्रह्म का एक स्वरूप आत्मा भी है। भारतीय दर्शनों में आत्म तत्त्व का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

यह शरीर रथ है, आत्मा इसका स्वामी है।[5] भारतीय दर्शनों (श्रोत, गीता,

---

१. ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पस्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥
मालती माधव १-६

२. को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ॥
७-४ उत्तररामचरित

३. अन्धमिस्त्रा ह्यसूर्या नाम ते लोकाः प्रेत्य तेभ्यः
प्रतिविधीयन्ते य आत्मघातिन ॥ —४ वाक्य सं० २४ उत्तररामचरित

४. दृश्यते अनेन इति दर्शनम्।
भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ सं० ३

५. कठोपनिषद २/३-४

सांख्य, योग, मीमांसा, अद्वैत वेदान्त, वैष्णव आदि दर्शनों) में आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, ज्ञानयोग, सृष्टिक्रम आदि का अन्वेषण एवं सुख प्राप्ति के बारे में विस्तार से बताया गया है और कवि के नाटकों से उस ब्रह्मतत्त्व आनन्द की प्राप्ति होती है। उस ब्रह्मतत्त्व को दो प्रकार का बताया गया है— सविशेष एवं निर्विशेष। सविशेष को सगुण ब्रह्म, कहीं अपर ब्रह्म तो कहीं शब्द ब्रह्म भी कहा जाता है। निर्विशेष को निर्गुण तथा परमब्रह्म कहा जाता है। कवि के नाटकों में हमें सविशेष ब्रह्म की जानकारी प्राप्त होती है। उस ब्रह्म को उपनिषद् में बताया है।[1]

योग द्रष्टा भवभूति :

महाकवि भवभूति ने योग दर्शन की सिद्धियों एवं मन्त्र सिद्धियों के महत्त्व को बताया है। योग द्वारा शोक शमन, सत्वज्ञान आदि की प्राप्ति होती हैं और इससे पाप तथा अपमृत्यु को पार कर मनुष्य उस अमरता एवं ब्रह्म को प्राप्त करता है। उन्होंने एक वाक्य में ही योग दर्शन के चार सूत्रों का भावार्थ स्पष्ट किया है।[2] योग ईश्वर से मिलाने व जन्ममरण के बन्धन से मुक्ति दिलाने में सहायक होता है। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग मोक्षोपाय है।[3]

प्राचीनकाल में ऋषियों के ज्ञानोत्पत्ति में योग ही सहायक हुआ करता था। योग से मन एकाग्रचित्त, शान्त एवं हृदय में सत्व का उदय होता है और सत्व दर्शन ही कवि का उददेश्य है। योग द्वारा सभी कुछ सिद्ध हो जाता है। ईश्वर की प्राप्ति योग द्वारा संभव है और उस ब्रह्म को प्राप्त करना ही मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य है। कवि ने 'मालती माधव'[4] में योग, तपस्या, तन्त्र, मन्त्र की शक्ति के द्वारा आकर्षिणी सिद्धि का वर्णन किया है।

सर्वेक्षण करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि महाकवि भवभूति को योगदर्शन की सिद्धियों एवं तन्त्र, मन्त्र का अच्छा ज्ञान था। योग के प्रति उनकी श्रद्धा उनके नाटकों में व्याप्त योग दर्शन द्वारा लक्षित होती है। वह योग की महत्ता को पूर्ण रूपेण जानते थे। योग द्वारा सत्व की आनन्दानुभूति होती है, और यह सत्य है कि कवि ने अपने नाटकों में सत्य की झाँकी प्रस्तुत की है।

---

१. तज्जलानिति शान्त उपासिति
छान्दोग्य उपनिषद् १३-१४-११

२. चतस्त्रो मैत्र्यादि भावनाः। विशोका ज्योतिष्मती चित्तवृत्तिः॥
महावीर चरित ३-४ के बाद की वाक्य सं०, पृष्ठ-१०६, टीकाकार रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन चौक बनारस-१।

३. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ-३४५।

४. इमामाकर्षिणीं सिद्धिमातनोमि शिवाय वः।
मालती माधव ६-५३, पृष्ठ-४३६, चौखम्बा सीरिज बनारस-१।

वेदान्त ज्ञाता भवभूति :

महाकवि भवभूति ब्रह्मवेत्ता व तत्त्व ज्ञानी थे। उन्होंने ओमरूपी त्रिगुणात्मक एकाक्षर ब्रह्म या सविशेष ब्रह्म का अपने नाटकों में स्थायित्व प्रदर्शित किया है। जिससे उनकी धर्म के प्रति निष्ठा व भक्ति भावना प्रदर्शित होती है, जो सत्य, नित्य व शाश्वत है।

महावीर चरित्र में ब्रह्म-स्तुति की गई है।[१] उत्तररामचरित में १, २, ३, ६, ७ अंकों में उस परमतत्त्व ब्रह्म के बारे में बताया गया है। कवि ने शब्द ब्रह्म की कला स्वरूप अंश के बारे में स्पष्ट किया है जो अमर एवं अविनाशी है।[२] वाक् ब्रह्म, शब्द ब्रह्म की कला का अंश है और वाणी को विष्णु के शरीर का ही अंश माना गया है।[३]

अतः कवि की रचनायें ब्रह्म विषयक भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। इनसे इनकी भक्ति भावना, ब्रह्म में विश्वास, आस्था आदि प्रगट होती है। उन्होंने प्रेम को नैसर्गिक मानते हुये शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य को महत्त्व दिया है। उनका प्रेम व सौन्दर्य भी ईश्वर में लिप्त सा दृष्टिगत होता है, जिसमें कोई छल व वासना न होकर पवित्रता व भव्यता प्रगट होती है। उत्तररामचरित में उन्होंने कहा है कि सच्चे प्रेम का रहस्य तो हृदय ही जानता है।[४] निश्छल प्रेम ईश्वर का रूप है क्योंकि ईश्वर निश्छल एवं प्रेममय है। सच्चा व पवित्र प्रेम आनन्ददायक होता है अतः कवि की भक्ति भावना दार्शनिक विचारों से ओत-प्रोत है।

ब्रह्मानन्दवाद और भवभूति :

परमब्रह्म परमेश्वर को आनन्द स्वरूप माना है। ब्रह्म शान्त, निर्मल, प्रकाशमान, असीम तथा सत्य है। सत्य को ब्रह्म का पर्याय माना जाता है। अतः ब्रह्म सत्य है और सत्य आनन्द स्वरूप है।[५]

भवभूति के नाटकों में सत्य को सिद्ध करने की चेष्टा की गई है और सत्य ब्रह्म की ओर ले जाता है। सौन्दर्य सत्य का प्रतीक है एवं ब्रह्म की प्रतिध्वनि है। सत्य, सौन्दर्य, शाश्वत आनन्द ब्रह्म का पर्याय है और इनके द्वारा ब्रह्म की

---

१. महावीरचरितम् १-१
२. विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्। उत्तररामचरितम् १-१।
३. काव्यालापाश्च ये केचिद गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मनः ॥ विष्णु पुराण, १-२२-८४।
४. हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं। उत्तररामचरितम् ६-३२
५. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्।
तैत्तरीयोपनिषद् ३-६

प्राप्ति होती है। भवभूति ने अपने नाटकों में सत्य, प्रेम व सौन्दर्य का वर्णन पवित्रता के रूप में किया है, जिससे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। इन्होंने आंतरिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुये पत्नी को गृह लक्ष्मी बताते हुये उसके स्पर्श को चन्दन के रस के तुल्य एवं नेत्रों के लिए अमृतशलाका के तुल्य बताया है।[1] प्रेम व सौन्दर्य की अनुभूति अन्तःकरण में होती है और इनसे हृदय आनन्दित होता है और आनन्द ही ब्रह्मानन्द सहोदर है।

महाकवि भवभूति शब्द ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले थे। उन्होंने कहा है कि सत्व गुण के प्रकाश से सबका साक्षात्कार हो जाता है।[2] भवभूति ने शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसे अपनी रचनाओं में वर्णित किया है कि ब्रह्म सत्य है तथा प्रकाशमय है और ब्रह्म से रहित सब कुछ अन्धकारमय है। उन्होंने कहा है कि आत्मघाती जब मरकर उन लोकों को जाते हैं जहाँ अन्धकार होता है और कभी सूर्य का प्रकाश नहीं होता।[3] इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म प्रकाश युक्त है। ब्रह्म से इतर अन्धकार ही अन्धकार है और तत्त्व ज्ञान द्वारा विवर्तों का ब्रह्म में लय हो जाता है। अतः कवि की रचनाओं में दार्शनिक विचारों से उस ब्रह्म तत्त्व की प्रतिष्ठा करना है जो प्रकाशमान आनन्दस्वरूप सभी स्थान पर व्याप्त, असीम और अनन्त है।

उपसंहार :

महाकवि भवभूति ने जीवन प्रवाह को प्रकृति के विशाल प्रांगण में प्रवाहित किया है। उन्होंने ससार की चराचरता और जीवन की क्षण भंगुरता को अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से देखा है। मृत्यु अवश्यम्भावी है, परन्तु वह नित्य नहीं है। श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो मेरी शरण में आकर जन्म मरण से छूटने का प्रयत्न करते हैं वह उस ब्रह्म को जान लेते हैं।[4]

कवि का तत्त्व चिन्तन उनके कथा-प्रवाह द्वारा सहृदयों तक पहुंचता है। आन्तरिक सौन्दर्य व आदर्श पवित्र प्रेम जो आनन्दप्रद है एवं नारी की शक्ति

---

१. इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः —उत्तररामचरितम् १-३८।

२ प्रचीयमानसत्त्वप्रकाशाः स्वयं सर्वं मन्त्रदृशः पश्यन्ति।
५/वाक्य संख्या ३० में उत्तररामचरितम्

३. अन्धतामिस्त्रा ह्यसूर्या नाम ते लोकाः प्रेत्यतेभ्यः
प्रतिविधीयन्ते य आत्मघातिन।
उत्तररामचरितम् ४-वाक्य संख्या २४

४. जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृतस्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
श्रीमद्भगवद्गीता ७-२९

जो तेजमय है, आदि को अपनी रचनाओं में आबद्ध किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में उस ब्रह्म का साक्षात्कार अनेक रूपों में कराया है। उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है वे आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत थे और धर्म एवं भारतीय दर्शनों में आस्था रखने वाले तत्त्व चिन्तक भी थे।

भवभूति जहाँ एक ओर वेदान्त के ज्ञाता थे तो दूसरी ओर योगदृष्टा थे। उन्होंने करुण रस में जिस आनन्दानुभूति को खोजा है, वह ब्रह्मानन्द सहोदर है। उनकी रचनाओं में ब्रह्मानन्दवाद का दर्शन होता है। भवभूति की कृतियों का यदि और भी विस्तार पूर्वक दार्शनिक विश्लेषण किया जाये तो वह सम्पूर्ण शोध का विषय बन सकता है। प्रस्तुत निबन्ध इसी का एक विनम्र अल्प प्रयास है। संक्षेप में भवभूति की कृतियों में भारतीय दर्शन का दर्शन प्राप्त होता है।

—: o :—

पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से 'भट्टिकाव्य' के कुछ दुर्घट प्रयोगों पर विचार

लखवीर सिंह
संस्कृत एवं पालि विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

संस्कृत व्याकरण क्षेत्र में महाकवि भट्टि का लब्ध प्रतिष्ठ स्थान है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'भट्टिकाव्य' या 'रावणवध' का निर्माण व्याकरणिक नियमों का सरल, स्पष्ट, शीघ्र बोधगम्य बनाने के लिये तथा साहित्य में प्रयुक्त दिखाने के लिये किया था। यद्यपि अपने इस उद्देश्य में महाकवि भट्टि को पर्याप्त सफलता मिली है परन्तु इसके साथ ही इनके काव्य में कहीं-कहीं कुछ ऐसे शब्द या प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें व्याकरणिक शब्दावली में दुर्घट या अपाणिनीय कहा जा सकता है। प्रस्तुत शोध पत्र में ऐसे ही तीन दुर्घट प्रयोगों पर विस्तार-पूर्वक चर्चा की गई है तद्यथा—'विनसा हत बान्धवा:'[1]

यह प्रयोग 'वेर्ग्रो वक्तव्य:'[2] और 'ख्यश्च'[3] इन दोनों वार्तिकों से सम्बन्धित हैं। इन वार्तिकों का अर्थ है कि 'वि' इस उपसर्ग से परे 'नासिका' इस शब्द को क्रमश: 'ग्र' और 'ख्य' आदेश हों। इस प्रकार विगता नासिका यस्य स इस विग्रह में 'विग्र:' और 'विख्य:' ये दो शब्द बनेंगे। यहाँ 'विग्र:' इस प्रयोग में 'वि' से परे 'नासिका' को 'ग्र' आदेश हुआ है।

परन्तु उपर्युक्त प्रयोग में समस्या यह है कि फिर यहाँ यह 'विनसा:' शब्द कैसे बना, क्योंकि यहाँ भी विगता नासिका यस्य इस विग्रह में 'उपसर्गाच्च'[4] सूत्र

१. द्र० भट्टिकाव्य अथवा रावणवध (भट्टि), सम्पा० श्रीशेषराज शर्मा, शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १९७५, ५.८, पृ० १७३।
'यद्यहं नाथ ! ना यास्यं विनसाहतबान्धवा:।
ना ज्ञास्यस्त्वमिदं सर्वं प्रमाधंश्चार दुर्बल:॥'

२. द्र० पाणिनीयाष्टाध्यायी (पा०) श्रीधर शास्त्री द्वारा सम्पादित भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट्, पूना, १९३५. सूत्र संख्या ८.४.२८ पर वार्तिक।

३. पा० ८.४.२८ वार्तिक।

४. पा० ५.४.११९।

प्रोक्त समासान्त 'अच्' प्रत्यय परे रहते नसादेश और 'टाप्' न होकर क्रमशः उक्त वार्तिकों द्वारा 'ग्र' और 'ख्य' होकर 'विग्रः' 'विख्यः' ये रूप बनने चाहिये थे।

इस समस्या का समाधान भट्टोजिदीक्षित ने यह दिया है कि उक्त प्रयोग को सुसंगत करने के लिये हम यहाँ विगता नासिका यस्य ऐसा बहुव्रीहि समास न मानकर विगता नासिका = विनासिका इस प्रकार 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया'[1] इस वार्तिक से प्रादि तत्पुरुष समास मानेंगे। स्पष्ट है कि फिर यहाँ बहुव्रीहि न होने के कारण पूर्वोक्त वार्तिकों से 'ग्र' और 'ख्य' आदेश नहीं होंगे अपितु यहाँ हम विगतया नासिकयो-पलक्षिता इस प्रकार 'उपलक्षित' पद का अध्याहार करके 'टाः' प्रत्यय परे रहते 'भ' संज्ञा में 'पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु'[2] इस सूत्र से 'नासिक' के स्थान पर 'नस्' आदेश होकर 'विनसा' यह तृतीयान्त रूप सिद्ध हो जाता है।[3] यहाँ यह अवश्य स्मरणीय है कि पूर्वोक्त व्याख्यान में 'विनसा' शब्द प्रथमान्त नहीं रहता अपितु तृतीयान्त बन जाता है परन्तु अर्थ में कोई बाधा न होने से उक्त समाधान ठीक ही है।

वैसे बृहच्छब्देन्दुशेखरकार के अनुसार मैत्रेय रक्षित आदि कुछ व्याख्याकारों के मत में जैसे 'नासा' और 'नासिका' ये दोनों स्वतन्त्र शब्द हैं वैसे ही कोशों में 'नासा' यह शब्द भी स्वतन्त्र पठित है।[4] ऐसी स्थिति में इनके अनुसार उक्त

---

१. पा. १·४·७९ पर वार्तिक

२. वही ६.१·६३

३. (क) द्र० वैयाकरणसिद्धांतकौमुदी (वै० सि० कौ०), सम्पा० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८२ भाग—२, सूत्र संख्या ८५९, पृ० १६५, 'कथं तर्हि विनसाः हतबान्धवा इति भट्टिः। विगतया नासिकयोपलक्षितेति व्याख्येयम्।'

(ख) द्र० बालमनोरमा (वै० सि० कौ०) पृ० १६६, 'विगता नासिका विनासिका, प्रादिसमासः, बहुव्रीहित्वाद् न ग्रादेशः, किन्तु टायां 'पद्दन्……… इति नसादेश विनसेति तृतीयान्तं रूपम्। उपलक्षि-तेत्यध्याहार्यमिति भावः।'

४. (क) द्र० साहसाङ्क की (अमरकोश रामाश्रमी टीका से उद्धृत सम्पा० पं० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १९७० काण्ड—२, वर्ग—६, श्लोक ८—९, पृष्ठ ३०१), 'घ्राणं गन्धवहा नासा नसा नस्य च नासिका इति साहसाङ्कः।'

(ख) द्र० वाचस्पत्यम् (बृहत् संस्कृताभिधानम्) सम्पा० श्री तारानाथ तर्क वाचस्पति, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १९६२, भाग—५, पृ० ४००६ 'नसा स्त्री—नस् हलन्तत्वात् वा टाप्। … 'विनसाः हतबान्धवाः' भट्टिः।'

(ग) द्र०-The practical Sanskrit-English Dictionary, Ed. by Vaman Shivram Apte, Motilal Banarsidas, Delhi 1965' 'नसा—the nose.'

प्रयोग में विगता -सा यस्य इस प्रकार स्वतन्त्र 'नसा' शब्द के बहुव्रीहि समास मानने पर 'विनसा' यह प्रथमान्त रूप भी बन सकता है।[1] अथवा यहाँ 'विनासा हतबाद्यवा:' ऐसा पाठान्तर मानकर भी समाधान दिया जा सकता है, जैसा कि 'भट्टिकाव्य' की टीकाओं में संकेत किया गया है।

इसके पश्चात् 'ततो वावृत्यमाना सा रामशालां न्यविक्षत्'[2] यह श्लोकांश है। इस श्लोकांश में समस्या यह है कि यहां 'वावृत्यमाना' रूप कैसे बना अर्थात् 'वृतु' वरणे धातु से यहाँ आत्मनेपद तथा 'श्यन्' होकर 'वृत्यमाना' होना चाहिय था। इसके समाधान के विषय में भट्टोजिदीक्षित सायणमाधव के आधार पर 'केचिद्' ऐसा उल्लेख करते हुये कहते हैं कि व्याकरणशास्त्र के धातु-पाठ में 'तप ऐश्वर्ये वा वृतु वरणे' ऐसा संहिता पाठ था। अब कुछ व्याख्याकार तो यहाँ 'तप् ऐश्वर्य वा' तथा 'वृतु वरणे' ऐसा संधिच्छेद मानते हैं तथा दूसरे इस 'वा' ग्रहण को 'वृतु' वरणे धातु का आदि अवयव मानते हुये 'तप:' 'ऐश्वर्ये' एवं 'वावृतु वरणे' ऐसा संधिच्छेद इष्ट मानते हैं।[3]

सायणमाधव के अनुसार तो 'तपि तिपिम्' इत्यादि अनिट्कारिका न्यास में भी 'तप्' 'सन्तापे 'तप्' ऐश्वर्ये वा में 'वा' ग्रहण को 'वृतु' धातु का आदि अवयव न मानकर पूर्व पठित 'तप' धातु का ही शेष स्वीकार किया गया है।[4] इस प्रकार व्याख्याकारों के व्याख्यान भेद से 'वृतु' और 'वावृतु' ये दो अलग-अलग धातु बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में जिस पक्ष में 'वा' ग्रहण को 'वृतु' धातु का आदि का अवयव माना जाएगा उस पक्ष को लेकर 'वावृतु' धातु से लट्, 'श्यन्'

---

१. द्र बृहच्छब्देन्दुशेखर (बृ श. शे) भाग डा. सीताराम शास्त्री, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६० भाग—२, पृ. ११२४, 'केचित्तु नसा नासा च नासिके' ति कोशात्स्वतन्त्र 'नसा' शब्द घटितस्यैव प्रथमाऽन्तमिदं रूपमित्याहुः।'

२. द्र. भट्टि ४·२८, पृ. १५३
ततो वावृत्यमानाऽसौ रामशालां न्यविक्षत।
मामुपायंस्त रामेति वदन्ती साऽऽदरं वचः।'

३. द्र. वै. सि. कौ. भाग ३, पृ ३२८,
'केचित्तु वाग्रहणं वृतुधातोराद्यवयवमिच्छन्ति।'

४. द्र. माधवीय धातुवृत्ति. सम्पा. स्वामी द्वारिका प्रसाद शास्त्री, तारा बुक एजेंसी, वाराणसी, १९८७, पृ. ४२८, 'तपि तिपिम् इत्यनिट्-कारिकान्यासे तु 'तप सन्तापे, तप ऐश्वर्ये वा इत्येव पठतोऽस्यापि वा शब्दः तप्यतेशेषोऽभिमतः॥'

तथा शानच्' प्रत्यय हो जायेगा तो स्त्रीलिंग में 'टाप्' प्रत्यय होकर उपर्युक्त इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है।[1]

यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि गणों में द्विरुक्त रूप वाले धातु प्रायः दुर्लभ हैं किन्तु यहाँ 'वावृतु' ऐसा धात्वन्तर मानने पर इसमें यङ्न्त 'वृत्' धातु की गन्ध सी अनुभव होती है और इस प्रकार के धातु को गणों में स्वीकार करना पाणिनि प्रक्रिया के अनुसार कुछ उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिये स्वर को ध्यान में रखते हुये तथा भाष्य विरोध को देखते हुये भट्टोजिदीक्षित ने भी इसमें कुछ अरुचि ही प्रकट की है।[2] अतः वृत्यमाना' यह प्रयोग ही अधिक साधु प्रतीत होता है। व्याख्याकारों के मतभेद को लेकर यदि इस प्रयोग को साधु ही सिद्ध करने का आग्रह है तो बात अलग है। फिर तो इस भट्टि प्रयोग को सुसंगत बनाने का एक यह भी इसका समाधान हो सकता है कि यहाँ 'वा' शब्द को 'वानर' शब्द के समान 'इव' अर्थ में स्वीकार कर लिया जाये।[3] फलतः वावृत्यमाना का प्रसंगानुसार यह अर्थ होगा—कामयमाना इव अर्थात् शूर्पणखा जो वस्तुतः वैसी नहीं है अपितु छलने के लिये आई है। इस प्रकार उक्त श्लोकांश का यह अर्थ लेकर उपयुक्त प्रयोग बन सकता है। स्पष्ट है कि इसमें 'वावृत्यमाना' एक पद नहीं है अपितु 'वा' और 'वृत्यमाना' ये दो अलग-अलग पद हैं जो कि न्याय्य ही हैं।[4] यहाँ यह कहना है कि यदि 'वावृतु' धातु सर्वथा ही नहीं है तो फिर 'वृतेतु वृत वावृत्तौ'[5] इस कोश वचन की संगति कैसे लगेगी क्योंकि इसमें वरण अर्थ में 'वृत्' और 'वावृत्' इन दोनों धातुओं का साक्षात् उल्लेख है तो इसका उत्तर

---

१. द्र. वै. सि कौ. भाग—३, पृ. ३२८. 'वक्षान्तरे वावृत्यते।' ततो वावृत्यमाना सा रामशालां न्यविक्षत इति भट्टिः।'

२. द्र. बृ श शे. भा.—३, पृ. १७७५, अत्राऽरुचिबीजन्तु .... ज्ञापकतापरम्पथानिवत्सूत्रस्थ भाष्य विरोधः · ····· 'वावृतु' इत्यस्याऽनेकाचः सत्वे तत्र धातुस्वरेणाऽसिद्धेर्भाष्याऽसंगतिः स्पष्टैवेति भाष्यप्रदीपोद्द्योते विस्तरः '

३. द्र शब्दकौस्तुभ. सम्पा. गोपाल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १९३३, भा १, सू १.१.११, पृ १२७, मणीवोष्ठस्य लम्बेते इति तु इवार्थकेन वा शब्देन निर्वाहनभित्याहुः······· ·· केचित्तु इवार्थेयं 'व' शब्दः प्रयुक्तो भीमो भीमसेन इतिवत्।

४. द्र. बृ श शे. भाग—३, पृ. १७७६, 'भट्टि प्रयोगे तु 'वा' शब्दस्य इवाऽर्थतया कामयमानेव, न तु तथा, किन्तुच्छलनाऽर्थमागतेत्यर्थान्न दोषः।'

५. द. अमर कोश ३·१·९१, पृ. ५१३

है कि फिर तो इसे पृषोदरादिगण में मानकर ही साधु मानना होगा। अन्य कोई उपाय नहीं है।[1]

अब 'इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य'[2] इस श्लोकांश में 'अनुजज्ञे' पद विचारणीय है। यह पद 'अनुपसर्गाज्ज्ञः'[3] इस पाणिनीय सूत्र से सम्बद्ध है। इस सूत्र का अर्थ है कि उपसर्ग रहित 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद होता है। यदि क्रिया का फल कर्ता को मिले, तद्यथा—गां जानीते। यहां इस उदाहरण में उपसर्ग रहित सकर्मक 'ज्ञा' धातु प्रयुक्त होने से आत्मनेपद हुआ है। यद्यपि यहाँ 'अकर्मकाच्च'[4] इस पूर्व सूत्र से भी आत्मनेपद सिद्ध हो सकता है तथापि सकर्मक अर्थ के लिये यह सूत्र बनाया गया है। यहां इस उदाहरण में उपसर्ग रहित सकर्मक 'ज्ञा' धातु प्रयुक्त होने से आत्मनेपद हुआ है।

अब उपर्युक्त 'अनुजज्ञे' प्रयोग में समस्या यह है कि फिर यह कैसे साधु सिद्ध होगा क्योंकि यहाँ तो 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'ज्ञा' धातु का प्रयोग हुआ है। जबकि उपसर्ग पूर्व में होने पर यह सूत्र 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद को रोकता है और न ही यह 'ज्ञा' धातु अकर्मक है जो 'अकर्मकाच्च' से आत्मनेपद सिद्ध हो जाता। अतः उक्त सूत्र द्वारा आत्मनेपद का निषेध होकर परस्मैपद होना चाहिये था।

इस समस्या का समाधान जयमंगला व्याख्या के अनुसार यह है कि यहां हम विभक्ति विपरिणाम कर लेंगे।[5] भाव यह है कि इस वाक्य को कर्तृवाच्य के स्थान पर कर्मवाच्य के रूप में कल्पित कर लिया जाएगा अर्थात् 'अनुजज्ञे' यह लिट् लकार कर्मवाच्य का मान लिया जाएगा और तब प्रस्तुत सूत्र के स्थान पर 'भावकर्मणोः'[6] से ही यहाँ आत्मनेपद सिद्ध हो जाएगा। यहाँ यह कहना कि यदि इस वाक्य को कर्मवाच्य का माना जाएगा तो नृपः यह प्रथमा विभक्ति

१. द्र. बृ. श. शे. भाग—३, पृ. १७७६, 'वृतेतु वृत्तवातृत्ती' इति कोश प्रयोगस्तु पृषादरादित्वात्साधुरित्याहुः।'

२. द्र. भट्टि १.२३, पृ २५
'क्रुध्यन्कुलं धक्ष्यति विप्रवह्निर्यास्यन्सुतस्तप्स्यति मां समन्युम्।
इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य।'

३. पा. १.३.७६

४. पा. १.३.४५

५. द्र. शरणदेव प्रणीति 'दुर्घट वृत्ति', सम्पा. टी. गणपति शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९८५, पृ. १९, नृपेणेति विपरिणामेन कर्मण्यात्मनेपदमिति जयमंगला।'

६. पा. १.३.१३

कैसे उत्पन्न होगी क्योंकि कर्मवाच्य में 'तयोरेव कृत्य क्तखलर्थाः'[1] के अनुसार कर्म के उक्त होने से कर्ता अनुक्त रहेगा। फलतः 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'[2] के नियम से अनुक्त कर्ता नृप में तृतीया विभक्ति होनी चाहिये तो यह ठीक नहीं क्योंकि 'इत्थ नृपः पूर्वमवाललोचे' इस प्रथम वाक्य की आलोचन क्रिया का कर्ता जो प्रथमान्त नृपः शब्द है, उसे ही लक्ष्यानुरोध से विभक्ति विपरिणाम मानते हुये 'अनुजज्ञे' इस क्रिया के लिये 'नृपेण' ऐसा तृतीयान्त अनुमान कर लिया जायेगा अर्थात् 'अवालुलोचे' यहां अन्वित 'नृपः' यह प्रथमान्त ही 'अनुजज्ञे' यहाँ 'नृपेण' तृतीयान्त में विपरिणमित हो जायेगा तो उक्त प्रयोग साधु सिद्ध हो जायेगा[3], क्योंकि राजा दशरथ ने प्रथम रामचन्द्र के राज्याभिषेक विषयक विचार किया तदनन्तर कैकेयी के कथन से राम को वन गमनार्थ आज्ञा दी। भाव यह कि यहां उदाहरण में 'नृपः' यह शब्द जो कि प्रथमा विभक्ति में निर्दिष्ट है उसे तृतीया विभक्ति में परिवर्तित करके अनुज्ञातं नृपेण ऐसा अर्थ लिया जायेगा तो इस प्रकार विभक्ति विपरिणाम द्वारा कर्मवाच्य का प्रयोग स्वीकार करते हुये 'भावकर्मणोः' सूत्र द्वारा कर्म में आत्मनेपद ही सिद्ध हो जायेगा। अतः यहाँ नृपेण यह तृतीयान्त प्रयोग ही है। शब्द कौस्तुभ, सिद्धान्त कौमुदी एवं सुधा निधि में भी यही समाधान प्रतिपादित है।

वैसे इसका एक अन्य समाधान निरंकुशता को लेकर भी किया जा सकता है क्योंकि 'निरंकुशाः कवयः', 'स्वतन्त्राः कवयः अथवा 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' इत्यादि वचनों के आधार पर हम शिष्ट एवं प्रामाणिक कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों को साधु ही स्वीकार करते हैं। इसका कारण है कि वे ऐसे ही अर्थात् निरर्थक या व्यर्थ रूप में तो किसी शब्द का प्रयोग नहीं करते। भावनातिरेक में भले ही कुछ ऐसे शब्दों का स्खलन हो जाता है जो कि हमें प्रामादिक, असाधु या अपाणिनीय प्रतीत होते हैं परन्तु हम उनको निरर्थक या सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण नहीं कह सकते। उनका कुछ न कुछ तो अवश्य ही अर्थ रहता है। अतः व्याकरणानुसार असाधु दिखाई देते हुये भी वे अर्थ पूर्ण ही होते हैं,

१. पा. ३·४·७०

२. पा. २.३. १८

३. बालमनोरमा (वै. सि. को.) पृ. ५८१, 'नन्वेवं सति नृप इति प्रथमान्तस्य कथमिहान्वय इत्यत आह नृपेणेति विपरिणाम इति। अवालुलोचे इत्यत्रान्वितं नृपः इति प्रथमान्तं तृतीयया विपरिणमितम-त्रानुषज्यते इत्यर्थः।'

जैसे कि उक्त 'अनुजज्ञे' पद के विषय में हम पहले विचार कर चुके हैं। अतः इस दृष्टि से उक्त प्रयोग साधु ही है।

इसके अतिरिक्त शब्दकल्पद्रुम में उक्त पद्यांश के 'अनुजज्ञे' पद में 'अनु' को उपसर्ग न मानकर उसे उपका प्रतिरूपक माना गया है। ऐसा मानने पर भी उक्त प्रयोग ठीक बन सकता है क्योंकि जब यहाँ 'अनु' उपसर्ग ही नहीं माना गया तो 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[1]

—:o:—

१. द्र० स्यार—राजा राधाकान्त देव बहादुर विरचित 'शब्दकल्पद्रुम' मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१, काण्ड—२, पृ० ५४२, 'ज्ञा बोधे—संदर्भ शुद्धि गिरां जानीते जयदेव एवेत्यत्र अनुपसर्गात् फलवत्कर्त्तर्य्यात्मनेपदम्। ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य इत्यत्रानुशब्दस्योपसर्ग प्रतिरूपकत्वेनानुपसर्गत्वात्, इति दुर्गादासः।'

काव्य-कला की दृष्टि से "रघुवंश महाकाव्य" में प्रयुक्त शकुन

डॉ० राजेश कुमार गुप्त

अध्यक्ष संस्कृत विभाग

एस० एस० वी० (पी० जी०) कालिज

हापुड़, जि० गाजियाबाद २४५१०१

भारतीय समाज में शकुनों का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से है। वैदिक साहित्य में शकुनों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक शकुनों का वर्णन मिलता है। साहित्य की सभी विधाओं में शकुनों का वर्णन प्राप्त होता है। यह शकुन वर्णन लोक व्यवहार की दृष्टि से जितना उपयोगी है उतना ही काव्य-कला की दृष्टि से भी उपयोगी है।

शकुन के प्रति विश्वास केवल भारतीय समाज में ही नहीं, अपितु विश्व के सभी समुदायों में इसके प्रति विश्वास है। अतः कहा जा सकता है कि शकुन सार्व-कालिक तथा सार्वभौमिक है। इन शकुनों को भावी घटनाओं का सूचक माना जाता है। सम्भवतः इसी आधार पर "शब्द कल्पद्रुम" में शकुन शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—

शक्नोति शुभाशुभम् विज्ञातुमनेनेति शकुनम्

शब्द कल्पद्रुम, पञ्चम् काण्ड पृष्ठ-२

अर्थात् जिसके द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान हो, उसे शकुन कहते हैं।

भय मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वह वर्तमान भय से ही भयभीत होता हो, ऐसा नहीं हैं। भावी आशंका से भी भयभीत होता है। शकुन के द्वारा भावी शुभ व अशुभ संकेत प्राप्त होते हैं। मन शुभ शकुनों से प्रसन्न तथा अशुभ शकुनों से चिन्तित हो जाता है।

शकुनों का प्रचलन कब से हुआ इसका निर्धारण करना किञ्चद् दुष्कर है। फिर भी, जब मानव ने विवेक चक्षु से ग्रह-नक्षत्र आदि में परिवर्तन देखकर प्रकृति में परिवर्तन देखा होगा, तब मन में यह धारणा बलवती हुई होगी कि "ऐसा होने पर ऐसा होता है"। फिर परम्परा से प्राप्त यह विश्वास शकुन रूप में मान्य हुआ।

वामन शिवराम आप्टे रचित संस्कृत-हिन्दी कोश में शकुन का अर्थ पक्षी विशेष किया है। शकुन शब्द को पक्षी अर्थ में स्वीकार करते हुए यह भाव भी

निकलता है कि पक्षियों की विशेष क्रियायें विशेष भाव की द्योतक होती हैं। जब हम वर्तमान में किसी 'चटका' आदि का अपने ऊपर धूल डालते हुए देखते हैं तब हम अनुमान कर लेते हैं कि शीघ्र वर्षा होने वाली है। इसी प्रकार कौए के अटरिया पर बैठकर बोलने से अनुमान लगाते हैं कि कोई आने वाला है। इसी प्रकार पक्षियों की क्रियाओं को देखकर तथा तदनुसार तत्तद्विषयक लक्षणों को सफल होते देखकर भावी सूचना देने के कारण शकुन नाम प्रचलित हो गया होगा तथा शकुन शब्द के रूढ अर्थ में प्रयुक्त हो जाने के कारण, जिन जिन पदार्थों से भावी सूचना मिलती होगी वे शकुन नाम से व्यवहृत होने लगे होंगे।

महाकवि कालिदास ने विविध रूप के शकुनों का प्रयोग किया है। महाकवि कालिदास द्वारा रघुवंश महाकाव्य में प्रयुक्त शकुनों का विवरण प्रस्तुत कर उनका काव्य कला की दृष्टि से विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। पुत्र प्राप्ति-अभिलाषा की सिद्धि की सूचना देने वाले वायु की अनुकूलता के कारण (रथ के) घोड़ों की खुरों से उठने वाली धूल से उन दोनों (रानी सुदक्षिणा तथा राजा दिलीप) की केश राशि एवं उष्णीश अछूते ही रहे—

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिन:।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ।।

सन्तान प्राप्ति के लिये गुरु वसिष्ठ के पास जाने से पूर्व अपने राज्य के भार को मंत्रियों पर सौंपकर उन दोनों (पति, पत्नी) ने रथ पर चढ़कर प्रस्थान किया उस समय अनुकूल चलने वाले वायु ने अभिलाषा की सिद्धि की सूचना दी।

इससे प्रतीत होता है कि अनुकूल वायु का चलना अभिलाषा की सिद्धि का सूचक है।

काव्य में इसकी उपयोगिता इस प्रकार परिलक्षित होती है कि कवि इस शकुन के माध्यम से स्पष्ट करना चाहता है कि दिलीप को सन्तान प्राप्त होगी।

आश्रम में आये हुए राजा दिलीप से बातें करते समय ही नन्दिनी वन से चरकर वापिस लौटी तभी तपोनिधि गुरु वसिष्ठ ने दिलीप से कहा—

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मन:।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ।। १.८७

हे राजन्। अब तुम अपनी पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा की सिद्धि को बहुत समीप ही समझो क्योंकि चर्चा करते ही यह कल्याणदायिनी नन्दिनी तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो गई है।

लोक व्यवहार में शकुन से सम्बन्धित यह मान्यता प्रचलित है कि कार्य-सिद्धि के लिये जिसका स्मरण किया जाता है यदि वह तत्क्षण उपस्थित हो जाता है तो वह कार्य सिद्ध हुआ समझा जाता है। काव्य के माध्यम से कवि कालिदास लोक

व्यवहार के अनुरूप राजा दिलीप को सन्तान-प्राप्ति कार्यसिद्धि को समीप ही समझते हैं ।

काव्य-कला की दृष्टि से प्रस्तुत शकुन एक विशेष औत्सुक्य उत्पन्न करता है तथा कथा प्रवाह में गति प्रदान करता है ।

महाकवि कालिदास ने महर्षि वसिष्ठ के लिये "निमित्तज्ञस्तपोनिधिः" कहा है । संजीविनी टीकाकार मल्लिनाथ सूरि ने इस पद की व्याख्या करते हुए कहा है—"निमितज्ञः शकुनज्ञः तपोनिधिर्वसिष्टः" अर्थात् महर्षि वसिष्ठ शकुन (शास्त्र) के ज्ञाता हैं । अतः नन्दिनी के नाम लिये जाने पर, उसके उपस्थित होने पर, कार्य सिद्धि होगी ।

रघु के जन्म के अवसर पर दिशाओं की निर्मलता को शुभ-सूचक शकुन के रूप में माना गया है—

> दिशः प्रसेदुः मरुतो ववुः सुखाः,
> प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।
> बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं,
> भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ।। ३-१४

इस अवसर पर दिशायें निर्मल हो गईं । सुखदायी (शीतल, मंद सुगन्धित) वायु प्रवाहित होने लगा । अग्नि की लपटें प्रज्वलित होकर तथा दक्षिण की तरफ मुड़कर आहूति ग्रहण करने लगीं । इस प्रकार उस समय सभी मंगलकारी शुभ-शकुन हुए । क्योंकि इस तरह के महापुरुषों का जन्म जगत के कल्याण के लिये होता है ।

प्रस्तुत श्लोक में शकुन को दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है—

(१) दिशाओं का निर्मल होना (२) अग्नि की लपटों का दक्षिण मुखी होकर आहूति ग्रहण करना ।

इन दोनों शकुनों के माध्यम से रघु का जन्म जगत कल्याण के लिये बताया गया है ।

काव्य-कला की दृष्टि से कवि ने शकुन के माध्यम से रघु की तेजस्विता तथा लोक कल्याणकारी भावना को व्यक्त किया है ।

अग्नि ज्वाला का दक्षिण (दाहिनी) ओर जाना विजय का सूचक है—

> तस्मै सम्यग्घुतो बहिर्वाजि नीराजनाविधौ ।
> प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ।। ४·२५

घोड़ों की नीराजना (शान्ति का अनुष्टान) (नीराजनाविधौ-नीराजनाख्ये शान्ति कर्मणि) इति मल्लिनाथः, की विधि में भली भाँति होम की गई अग्नि ने, दाहिनी ओर जाने वाली अपनी ज्वाला के बहाने मानो अपने हाथ से ही रघु को विजय दे दी ।

काव्य-कला की दृष्टि से इस शकुन के माध्यम से रघु का विजयी होना सूचित किया गया है। विजयी होना रघु का उत्कर्ष है। रघु की उत्कर्षता को द्योतित करना कवि का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है।

इन्दुमती के स्वयंवर में राजा अज की दक्षिण भुजा का फड़कना सुन्दर स्त्री की प्राप्ति का सूचक माना गया है—

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः सशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ।। ६.६८

राजकुमारी इन्दुमति के अपने सम्मुख उपस्थित होने पर रघु के पुत्र अज के मन में यह व्याकुलता छा गई कि "यह मेरा वरण करेगी या नही"। तभी उसकी दाहिनी भुजा ने केयुरबन्ध के स्थान पर स्पन्दित होकर उसका सदेह दूर कर दिया।

इससे प्रतीत होता है कि दक्षिण भुजा का केयूरबन्ध स्थल पर स्पन्दित होना सुन्दर स्त्री प्राप्ति का सूचक है। केयूरबन्ध स्थल पर स्पन्दित होने से ही स्त्री-लाभ निश्चित है। दक्षिण भुजा के कहीं पर भी स्पन्दित होने से नहीं।

इस शकुन के माध्यम से ज्ञात होता है कि जिस इन्दुमती को प्राप्त करने के लिये स्वयंवर में विभिन्न देशों से आये सुन्दर से सुन्दरतम् राजपुत्र तथा राजा विद्यमान थे उस स्वयंवर में अज का व्याकुल होना स्वाभाविक ही था। कालिदास के शब्दों में इन्दुमती का सौंदर्य अनुपम है। यह भुज स्पन्दन अज की व्याकुलता को दूर कर देता है।

महाकवि कालिदास ने अन्य स्थलों पर भी दक्षिण-भुज स्पन्दन वा शकुन रूप में वर्णन किया है—

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीता संगम शंसिनि ।
निचरमानाधिक क्रोधः शरं सव्यतर भुज ।। १२.९०

अर्थात् अत्यन्त क्रोध से भरे रावण ने रामचन्द्र जी की फड़कती हुई अतएव सीता से मिलने की सूचना देती हुई दक्षिण भुजा में एक बाण मारा।

वल्लालसेन लक्ष्मण सैन-कृत "अद्भुत सागर" में दक्षिण भुज स्पन्दन का फल बताते हुए कहा है—

"वामेतर भुज स्पन्दो बरस्त्रीलाभ सूचकः"।

रावण द्वारा पीड़ित देवता क्षीर सागर में निवास करने वाले विष्णु भगवान के पास पहुँचे त्यो हि भगवान विष्णु योग निद्रा से जाग गये—

ते च प्रापुरुदन्वन्त बुबुधे चादिपुरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ।। १०.६

देवता लोग ज्योंहि समुद्र के समीप पहुंचे त्योंहि आदि पुरुष भगवान विष्णु योगनिद्रा से जाग गये। किसी कार्य में व्यवधान का न होना उस कार्य की सफलता की शुभ सूचना है।

लोक व्यवहार में हम देखते हैं कि जब हम किसी व्यक्ति के पास विशेष कार्य के लिये जाते हैं, यदि वह व्यवित नहीं मिलता तो हमारा माथा ठनक जाता है। यदि व्यक्ति उपलब्ध हो जाता है तो कार्य सिद्धि की सम्भावना बढ़ जाती है।

प्रस्तुत शकुन से ज्ञात होता है कि देवता लोग जिस कार्य हेतु आये हैं, उस कार्य में उन्हें सफलता प्राप्त होगी। यह शकुन फल प्राप्ति की ओर लक्षित कर रहा है।

महाकवि कालिदास ने अन्य शकुनों के साथ-साथ स्वप्न शकुन का भी वर्णन किया है। रघुवंश महाकाव्य के दशम सर्ग में गर्भवती तीनों रानियों ने स्वप्न में देखा कि शंख, खड्ग, गदा, धनुष एव चक्र धारण करने वाली छोटी मूर्तियाँ उनकी रक्षा कर रही हैं और आकाश मण्डल में अपने सुनहले पंखों के प्रभासमूह को बिखेरते हुये तथा अपने तीव्र वेग से मेघों को खींचने वाला गरुड़ उन्हें उड़ाये ले जा रहा है—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः।
जलजासिगदाशार्ङ्ग चक्रलाञ्छित मूर्तिभिः ।। १०-६०

× × ×

हेमपक्ष प्रभाजालं गगने च वितन्वता।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्ट पयोमुचा ।। १०-६१

× × ×

कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपलस्थिरे ।। १०-६३

× × ×

ताभ्यस्तथा विधान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः।
मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ।। १०-६४

अर्थात् अपनी रानियों द्वारा इस प्रकार स्वप्नों को देखने की चर्चा सुनकर राजा दशरथ परम प्रसन्न हुये और जगद्गुरु विष्णु भगवान के पिता होने के कारण उन्होंने अपने को सर्वश्रेष्ठ माना।

प्रस्तुत स्वप्न-शकुन के माध्यम से महाकवि कालिदास ने [illegible] लक्षणों से विष्णु का अवतरित होना तथा दशरथ पुत्र राम विष्णु के अवतार हैं, इस प्रश्न की सिद्धि के लिए शकुन के माध्यम से सरल तथा प्रभावी ढंग से पाठक के मन को संतुष्टि प्रदान की।

कवि कालिदास ने जहाँ शुभ शकुनों का वर्णन किया है वहाँ अपशकुन का भी वर्णन किया है। रामचन्द्रादि के जन्म के साथ रावण का मुकुट गिर पड़ा तथा मणियाँ पृथ्वी पर गिर गयीं—

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षस श्रियः ।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥ १०-७५

मुकुट का गिरना अपशकुन माना गया है । यह अपशकुन रावण के विनाश का सूचक है ।

राम तथा लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ जाने की अनुमति देने पर सपुष्प जल-वर्षा को शुभ सूचक शकुन के रूप से वर्णित किया गया है—

यावदादिशति पार्थिवस्तयो ।
निर्गमाय पुरमार्ग सत्क्रियाम् ॥
तावदाशु विदधे मरुत्सखः ।
सः पुष्प जल वर्षिभिर्घनैः ॥

राजा ने जब तक उन दोनों (राम-लक्ष्मण) के नगर से बाहर जाने के लिये राजमार्ग के सजावट की आज्ञा दी तब तक वायु ने धूल साफ कर दी और मेघों ने सपुष्प जल वर्षा कर मार्गों को सजा दिया ।

प्रस्तुत श्लोक में वायु मरुत् आदि देवताओं द्वारा मार्गों के सजाने को शकुन रूप में प्रस्तुत किया है ।

राम के विवाहोपरान्त अयोध्या को लौटते हुए मार्ग में प्रतिकूल गामी झंझावात, परशुराम द्वारा होने वाले भावी उत्पात की सूचना देने के कारण अशुभ माना गया है--

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरु प्रमाथिनः ।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥ ११-५८

उनके मार्ग में पताका रूपी वृक्षों को छिन्न-भिन्न करने वाली प्रतिकूल वायु ने उनकी (दशरथ की सेना) को उसी प्रकार पीड़ित किया जिस प्रकार तट के ऊपर बहने वाली नदी का प्रवाह ऊपरी भूमि को पीड़ित करता है ।

इस श्लोक में दशरथ की सेना पर परशुराम को प्रभावी दर्शाया गया है तथा प्रतिकूलगामी वायु का प्रवाह अपशकुन रूप में चित्रित किया गया है ।

इसी अवसर पर अन्य अनेक अपशकुन भी हुए—

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्ध भीमपरिवेषमण्डलः ।
वैनतेय शमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥ ११-५९

इसके बाद अपने चारों ओर बने हुये भयंकर परिवेश-मण्डल से युक्त सूर्य, गरुड़ द्वारा मारे गये सर्प के शरीर से वेष्टित उसके फल से गिरी हुई मणि के समान दिखलाई पड़ने लगा ।

श्येन पक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः ।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकन क्षमाः ॥ ११-६०

[illegible] के मेघों

के समान रक्त भीगे हुये वस्त्रों वाली दिशायें उस समय रजस्वला स्त्रियों के समान देखने योग्य नहीं रह गयीं।

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे।
क्षत्र शोणित पितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ ११-६१

सूर्य जिस दिशा में थे, उसी दिशा में स्थित सियारिनें, क्षत्रियों के रक्त से अपने पितरों का तर्पण करने वाले परशुराम जी को मानो बुलाती हुई सी रुदन करने लगीं।

भयंकर परिवेश-मण्डल से युक्त सूर्य, सायकाल के मेघों के समान रक्त से भीगे हुये वस्त्रों वाली दिशायें, रजस्वला स्त्री के समान अदर्शनीय, सियारिनों का रुदन आदि अपशकुनों से राजा दशरथ किञ्चिद् विचलित हुये। लेकिन गुरु से इन अपशकुनों की शांति के लिये पूछने पर—गुरु वसिष्ठ ने कहा कि इसका अन्त अच्छा ही होगा, इसने राजा दशरथ के दुःख को कुछ कम कर दिया।

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित्।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥ ११-६२

राम पर अभियान करने वाले राक्षसों के लिये, नाक-कान कटी शूर्पणखा को आगे करना अमङ्गल (अपशकुन) बन गया—

मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरोदधुः।
रामाभियायिनां तेषां तदेवा भूदमङ्गलम् ॥ १२-४३

नाक कान कटे व्यक्ति का अग्रणी होना अपशकुन का सूचक है। यह अपशकुन राक्षसों के विनाश का सूचक है।

वन में त्याग के लिये सीता को ले जाते हुए लक्ष्मण ने सीतामाता से, जिस अशुभ बात को छिपा रखा था, उसको सीता की दाहिनी आंख के स्पन्दन ने बता दिया—

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्त प्रियदर्शनेन ॥

लक्ष्मण ने मार्ग के मध्य में जिस (अशुभ) बात को सीता से छिपाया उस भविष्य में आने वाले महान दुःख की बात को, प्रिय दर्शन से सर्वदा के लिए वंचित रहने वाली फड़कती हुई दाहिनी आँख ने सीता से बतला दिया।

स्त्री की दाहिनी आंख का फड़कना अशुभ सूचक है।

काव्य कला की दृष्टि से यह प्रसङ्ग महत्वपूर्ण है। जगज्जननी सीता माता के लिये यह कहना कि श्रीराम द्वारा तुम्हारा त्याग किया जा रहा है, यह न तो कवि द्वारा ही सम्भव था और न लक्ष्मण द्वारा। काव्य-कथा सौन्दर्य को बनाये रखने के लिये अपशकुन के माध्यम से दुःखद एवं कटु सत्य की अनुभूति करा देने से काव्य दोष रहित रहा। यदि लक्ष्मण अपने मुख से इस बात को कहते तो प्रसङ्गानुकूल स्वरसानुभूति दोष पूर्ण हो जाती है। इससे प्रतीत होता है कि काव्य कला की दृष्टि से शुभाशुभ सूचक शकुन एवं अपशकुनों का वर्णन काव्य में महत्व रखता है।

महाकवि कालिदास के 'रघुवंश महाकाव्य' में शकुनों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कवि ने अन्य विषयों के साथ, कथावस्तु में प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने तथा भावी सूचना देने के लिये शकुनों का उपयोग किया है। इस अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि शकुन शास्त्र वास्तविक तथ्यात्मक चिन्तन है। केवल कपोल कल्पना मात्र नहीं। क्योंकि कवि ने जिस निमित्त शकुनों का प्रयोग किया है उनका फल अवश्य प्राप्त हुआ है।

महाकवि ने विभिन्न रूपों में शकुनों का प्रयोग किया है। यथा—सूर्य से प्राप्त शकुन दिशाओं की निर्मलता तथा अंधकार युक्त होने से प्राप्त शकुन, सियारनियों द्वारा प्राप्त अपशकुन, आँख, भुजा आदि के स्पन्दन से प्राप्त शुभाशुभ शकुन, वायु की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता से प्राप्त शुभाशुभ शकुन, झंझावात से प्राप्त अपशकुन, स्वप्न से प्राप्त शकुन, अङ्ग-भङ्ग स्त्री से प्राप्त अशुभ अग्नि शकुन, ज्वाला की दक्षिण गति से प्राप्त शकुन।

प्रायः अपशकुनों की निवृत्ति का अतिन्यूनता से वर्णन प्राप्त होता है। केवल एक स्थल पर, जब परशुराम क्रुद्ध होकर दशरथ के समीप आते हैं तब दशरथ अपशकुनों से घबराकर गुरु वसिष्ठ से अपशकुनों की शान्ति का उपाय पूछने पर गुरु वसिष्ठ कहते हैं—'इसका अन्त अच्छा ही होगा" तभी दशरथ का दुःख कुछ कम होता है।

काव्य-कला की दृष्टि से शकुन प्रयोग जहाँ कथावस्तु में गतिशीलता उत्पन्न करते हैं, वहीं नायक के उत्कर्ष विधायक हैं। महाकाव्य का अध्ययन करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि शकुन स्वाभाविक गति से आ रहे हैं काव्य में कृत्रिमता के रूप में नहीं।

काव्य कला की दृष्टि से दो स्थलों पर, शुभाशुभ शकुन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

प्रथम—आदि पुरुष भगवान विष्णु के रामावतार रूप में अवतरित होने के सम्बन्ध में अवतारवाद भारतीय मनीषियों में शास्त्रार्थ का विषय बना हुआ है। महाकवि ने इस जटिल समस्या का समाधान शकुन चिन्हों के माध्यम से बड़ी सरलता से कर दिया है।

द्वितीय—वन के मध्य जगज्जननी सीतामाता के परित्याग को, जिसको न तो लक्ष्मण अपने मुख से कहने में समर्थ थे, न ही कवि कालिदास उस द्विविधा ग्रस्त स्थिति में सव्येतर अक्षि स्फुरण अशुभ शकुन के माध्यम से कवि ने सभी स्पष्ट कर दिया।

इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि शकुन के माध्यम से भी काव्य में चारुता, भावाभिव्यक्ति, अकथनीय एवं अवर्णनीय विषयों का कथन, सरलता से किया जा सकता है।

भारवि के समय वर्ण-व्यवस्था

डॉ० प्रेमलाल ठाकुर
संस्कृत विभाग,
हि०प्र०वि०वि०,
शिमला—१७१००५

सुरेन्द्र शर्मा
संस्कृत विभाग,
हि०प्र०वि०वि०,
शिमला—१७१००५

भारत में वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रचलन प्राचीन काल से ही है। प्रथमतः ऋग्वेद[1] में वर्ण का उल्लेख मिलता है। विभिन्न लोगों के जातिगत समूह को वर्ण इंगित करता है। यह वर्ण विभाग पहले कर्म और गुण के आधार पर निश्चित हुआ, तदनन्तर वर्णों को जन्म के आधार पर जाति कहा जाने लगा[2]। प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रन्थों में वर्ण-विभाजन चार प्रकार से किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। ब्राह्मण को विराट-पुरुष का मुख, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को उसका उरू तथा शूद्र को उस विराट-पुरुष का पाँव माना गया है[3]। 'मनुस्मृति' भी इसी कथन का समर्थन करती है[4]।

वर्णों की चर्चा ब्राह्मण-ग्रन्थों में हुई है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में ब्राह्मण का कर्त्तव्य यज्ञ-यागादिक करना बतलाया गया है[5]। क्षत्रिय को बलवान होना चाहिये[6], वैश्य का कार्य व्यापार करना तथा राष्ट्र की उन्नति करना[7] तथा शूद्र को श्रम का साक्षात रूप माना गया है जिस पर राष्ट्र टिका हुआ है[8]। वर्णों की उत्पत्ति पर 'महाभारत' में भी प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मण का कार्य वेद की रक्षा करना, क्षत्रिय का कार्य पृथ्वी पर शासन करना, दण्ड धारण करना और जीवों की रक्षा करना तथा शूद्र का कार्य दास बनकर तीनों की सेवा करना है[9]। इस प्रकार वर्णों का विभाग एवं उनका कर्त्तव्य प्राचीन समय से ही निश्चित कर दिया गया था। प्रत्येक वर्ण के लिये एक सुनिश्चत व्यवस्था, जिसके अनुरूप वह अपना-अपना कर्म करता था।

१. २-१२-४
२. विनयपिटक (ओल्डनवर्ग) को० २, पृ० २३९
३. ऋग्वेद, १०-१०-१२
४. मनुस्मृति, १-२
५. १-९-३-१६
६. ऐतरेय ब्राह्मण, ८-६
७. वही, ८-२६
८. शतपथ ब्राह्मण, १३-६-२-१०
९. शान्तिपर्व, अध्याय ६०

वैदिक युग में चार वर्णों में विभक्त भारतीय धर्म मध्ययुग में भी तदनुरूप ही रहा। भारवि के समय में भी वर्णों की मर्यादा पूर्ववत् ही प्रतिष्ठित थी। यद्यपि वर्ग विभाजन का आधार जन्म माना जाने लगा था तथापि वर्ण व्यवस्था में व्यक्ति के व्यवसाय और धर्म का महत्त्व निर्विवाद था। महाकवि भारवि ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख किया है। राजा वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपालक होता था। 'किरातार्जुनीय' के वर्णनानुसार अर्जुन शिव की सेना से कहते हैं कि आपके स्वामी वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने के योग्य नहीं हैं।[1]

१. ब्राह्मण—

वर्णों में ब्राह्मण का सर्वोच्च स्थान था तथा वह सर्वाधिक पूज्यनीय था। वैदिक युग से ही ब्राह्मण धर्म की मर्यादा मान्य है। ब्राह्मण को विराट पुरुष का मुख कहा गया है।[2] मनुष्यों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[3] ब्राह्मण वेदों का ज्ञाता और सभी क्रियाओं का मर्मज्ञ होता था। वह धर्म के कारण भी सर्वश्रेष्ठ माना है।[4] 'शुक्रनीति' के अनुसार जो ज्ञान, कर्म आदि की उपासना में तत्पर, शान्त, दान्त और दयालु है वही ब्राह्मण है।[5] शास्त्रीय वर्णनों के अनुसार ब्राह्मण वेद विद्या में पारंगत एवं सात्विक आचार-विचार का व्यक्ति होता था; किन्तु कालक्रम से बुद्धि संस्कार से विरत केवल जन्म से ब्राह्मण व्यक्ति भी माननीय था।[6] भारवि ने अपने महाकाव्य में ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की है। उस समय राजा पहले ब्राह्मणों को भोजन कराते थे, तत्पश्चात् उनके द्वारा अवशिष्ट अन्न स्वयं ग्रहण करते थे। इस प्रकार का भोजन ग्रहण करने से राजा का शरीर अत्यन्त रमणीय होता था।[7]

ब्राह्मणों का पराक्रम वचन होता है। प्रारम्भ से ही उनके आशीर्वाद की महत्ता रही है। भारवि ने भी ब्राह्मणों के आशीर्वाद को वही स्थान दिया है जो प्राचीन समय में था 'किरातार्जुनीय' में मुनि वेदव्यास के आगमन से युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि यह मेरे समस्त यज्ञानुष्ठान एवं ब्राह्मणों के

१. किरातार्जुनीय, १४ २
२. ऋग्वेद, १०. १०. १२; मनुस्मृति, १·९२
३. मनुस्मृति, १·९६
४. वही, १ ९३
५. वही, १ ४०
६. हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास, पृ० ४—'असंस्कृत-मतयोऽपि जात्यैव द्विजन्मनोमाननीया:।'
७. किरातार्जुनीय, १·३९

के आशीर्वाद का ही फल है।[1] ब्राह्मण ही सम्पूर्ण यज्ञ-यागादि क्रियाओं को करवाते थे। 'किरातार्जुनीय' में वनेचर दुर्योधन के राज्य की नीति के विषय में युधिष्ठिर को बताते हुये कहते हैं कि दुर्योधन ने पुरोहित की आज्ञा से आलस्य का त्याग कर दिया है और यज्ञ में अग्निदेव को हव्यादि देकर प्रसन्न करते हैं।[2]

ब्राह्मणत्व की महत्ता उसकी विद्वता में है। विद्वान ब्राह्मण पुरोहित यज्ञ में मन्त्रों के द्वारा देवताओं को साक्षात् प्रकट किया करते थे। यज्ञ में जब पशुबलि दी जाती थी तो ब्राह्मण मन्त्रों द्वारा देवताओं का आह्वान किया करते थे और देवता साक्षात् प्रकट हो जाते थे। इनके मन्त्रों में अमोघ बल होता था।[3] ब्राह्मण मन्त्रों द्वारा शस्त्रों का शुद्धीकरण करते थे।[4] ये मन्त्र सुरम्य होते हुये भी मारण क्रिया में प्रयुक्त होते थे। ब्राह्मणों को प्राचीन समय से ही अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। समाज में सम्मान प्राप्त होने के कारण ब्राह्मण को किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। सूत्रकाल में भी ब्राह्मण अवध्य था।[5] 'महाभारत' काल में भी ब्राह्मण का वध नहीं होता था तथा उसे उच्च स्थान प्राप्त था।[6] शूद्रक विरचित 'मृच्छकटिक' में भी मनु के प्रामाण्य से ब्राह्मण अपराधी के लिये अधिकरणिक के द्वारा वध के स्थान पर राष्ट्र से निष्कासन का दण्ड दिया जाता है।[7] भारवि के समय में भी ब्राह्मणों को चंचल स्वभाव वाला माना गया है; परन्तु यदि कोई अपराध भी कर देता था तो वह क्षमायोग्य होता था।[8] इससे ज्ञात होता है ब्राह्मण प्रत्येक स्थिति में क्षम्य होता था। परशुराम ने जमदग्नि ऋषि के पुत्र होते हुये भी इक्कीस बार क्षत्रिय राजाओं को पराजित किया था। शस्त्रविद्या के वे आचार्य थे; परन्तु अपने शिष्य भीष्म से एक बार पराजित हो गए थे तब उन्होंने समझा कि जैसा पात्र होगा वैसा ही गुणों का प्रकर्ष होगा।[9] कर्ण को देखकर मृत्यु भी भयान्वित होती थी और उसी कर्ण ने परशुराम से रहस्य सहित शस्त्रों को प्राप्त किया था।[10]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण की विशेषता वर्णोचित पवित्र

१. किरातार्जुनीय, ३.६
२. वही, १.२२
३. वही, १४.३८
४. वही, ३.५६
५. गौतमधर्मसूत्र, १२.४३; ८.१२-१३
६. महाभारत, १ २८.३
७. वही, ९.३९
८. किरातार्जुनीय, १३.६३
९. वही, ३.१८
१०. वही, ३.१९

आचरण तथा वंशगौरव में ही निहित है। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ग अत्यधिक पवित्र तथा विनम्र माना जाता था।

२. क्षत्रिय—

ब्राह्मणों के पश्चात् वर्ण-व्यवस्था में द्वितीय स्थान क्षत्रियों को प्राप्त था। पुरातन काल से ही देश और समाज की रक्षा का भार क्षत्रियों पर था। प्रजा की रक्षा करना, वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना एवं सांसारिक विषयों में चित्त लगाना, क्षत्रियों के कर्म बताये गए हैं।[1] लक्ष्मीधर ने मनु, पराशर, बौधायन आदि को उद्धृत करते हुये कहा है कि राजा के रूप में उनका विशेष कर्त्तव्य है—शस्त्र धारण करना, देश का निष्पक्ष शासन करना और वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना। क्षत्रिय को ईश्वर और ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिये।[2] शुक्र के अनुसार जो लोक की रक्षा करने में दक्ष, वीर, दान्त, पराक्रमी और दुष्टों को दण्ड देने वाला हो, वही क्षत्रिय है।[3] पराशर के मत में क्षत्रियों को चाहिये कि प्रजा की रक्षा करें, हाथ में शस्त्र धारण करें, दण्ड भली-भाँति दें और दूसरे की सेना को जीतकर धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करें।[4]

'किरातार्जुनीय' में अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिये जब प्रस्थान करते हैं तो द्रौपदी कहती है कि ब्रह्मा ने संसार की रक्षा करने के लिये क्षत्रिय तेज को उत्पन्न किया है और विजयशील पराक्रम ही उसका सर्वस्व है। इस तेज रूपी धन का अपहरण करता हुआ तथा क्षत्रियों के प्राण-सदृश अभिमान को नष्ट करता हुआ, शत्रुकृत-पराभव शनै-शनैः सूखते हुये भी आपके वियोग में फिर मेरे हृदय में नया-सा हो जायेगा।[5] कवि ने क्षत्रियों के तेज का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है।[6] जो तेजस्वी व्यक्ति होता है वह दूसरे के ऐश्वर्य को सहन नहीं कर सकता।[7] इसी प्रकार भीम युधिष्ठिर को कहता है कि आपको चुपचाप नहीं बैठना चाहिये; क्योंकि शत्रुपक्ष में ऐसा कौन व्यक्ति है जो हम भाईयों के तेज को सहन कर सके। अतः तेज का प्रदर्शन शत्रु के ऊपर आपको करना ही चाहिये।[8] इससे प्रतीत होता है कि क्षत्रियों में अलौकिक तेज होता था और यह

१. मनुस्मृति, १८९; याज्ञवल्क्य स्मृति, ५.११७—१९; कौटिल्य अर्थशास्त्र, १-३-७
२. कृत्यकल्पतरु—गृहस्थ पृ० २५३
३. शुक्रनीति, १-४१
४. पराशरस्मृति, १-६६
५. किरातार्जुनीय, ३-४१
६. वही, १-४२–४४; २-१८, २०, २३
७. वही, २-१८
८. वही, २-२३

तेज उनके व्यक्तित्व का अनिवार्य गुण था।[1] यह तेज क्षत्रिय जाति की अमिट सम्पत्ति हुआ करती थी और इसकी रक्षा करना क्षत्रिय जाति का कर्त्तव्य समझा जाता रहा है। क्षात्र धर्म पालन के लिये क्षत्रिय लोग शस्त्र धारण किया करते थे जिससे वे अपने मार्ग में आई हुई विघ्न बाधाओं का नाश करते थे। 'किरातार्जुनीय' में भी यक्ष अर्जुन से कहते हैं कि व्यास मुनि के निर्देश के अनुसार क्षात्र धर्म का पालन करते हुये अर्थात् शस्त्र ग्रहण करते हुये सावधान होकर तपस्या करें। यद्यपि अनुकूल वातावरण होते हुये भी विघ्न-बाधाओं के बिना कल्याण प्राप्त करना कठिन है अर्थात् कल्याण प्राप्त होने में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं, अतः विघ्न निवारणार्थ शस्त्र धारण करना आपके लिये अत्यावश्यक है।[2] क्षत्रियों में साहस होना स्वाभाविक ही था। इसके साथ-साथ ही वे शान्त रस रूप तेज को भी धारण करते थे। अर्जुन ने स्वर्ग के अधिपति (इन्द्र) की तपस्या के लिये जीवहिंसादिकों से दूर होकर ध्यानपूर्वक मन्त्रों का जप और प्रार्थना के द्वारा स्वभावतः वीर और शान्त रस रूप तेज, जो उनके पोषक थे, पोषक को धारण किया अर्थात् परस्पर विरुद्ध वीर और शान्त दोनों रसों का पुट अर्जुन में देखने से मिलता था।[3]

क्षत्रिय का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा एवं सज्जनों की रक्षा करना माना जाता था। उसका विशिष्ट गुण युद्ध के लिये सदैव सन्नद्ध रहना एवं युद्ध क्षेत्र से मुख न मोड़ना आदि माना जाता था। 'किरातार्जुनीय' में द्रौपदी अर्जुन से कहती है कि जो सज्जनों की रक्षा कर सके वही क्षत्रिय है; आप क्षत्रिय होने पर भी मेरी रक्षा न कर सके और आपका धनुष युद्ध में काम नहीं आ सका। यदि इस अपवाद को मिटाना चाहते हैं तो पुनः प्रयत्न करके दिखा दें कि इनका अर्थ अनुपयुक्त नहीं है।[4] इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय वही है जो जाति, कुल और मर्यादा की रक्षा कर सके। इसी प्रकार क्षत्रिय राजा वही है जो समय आने पर कठोर बन जाता है; वही प्रजा को अपने प्रभाव में रख सकता है।[5] जब जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने अपने शिष्य भीष्म को युद्ध के लिये ललकारा तो भीष्म भी युद्ध के लिये तैयार हो गये; क्योंकि भीष्म क्षत्रिय थे। क्षत्रिय होने के कारण अपने गुरु परशुराम को युद्ध में पराजित किया था।[6] क्षत्रियों में एक बड़ा गुण यह भी था कि दूसरे क्षत्रिय की वीरता के बारे में भी सुनना उनके स्वभाव के विपरीत था, युद्ध से

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, १-७
२. किरातार्जुनीय, ५-४६
३. वही, ६-२२
४. वही, ३-४८
५. वही, २-३८
६. वही ३-१८

विमुख होना तो दूर रहा। । ऐसी परिस्थिति में वह सदा युद्ध के लिये सन्नद्ध रहता था। भीम भी क्षत्रिय होने के कारण युधिष्ठिर से कहता है कि जो तेजस्वी होता है वह दूसरे के ऐश्वर्य को सहन नहीं कर सकता, अतः आपको शत्रु पर चढ़ाई करनी चाहिये। उसका यह अमर्ष रूप धर्म अकृत्रिम, सहज एवं स्वाभाविक है।[१] क्षत्रिय यज्ञ भी किया करते थे। सुयोधन क्षत्रिय होने के कारण पुरोहित की आज्ञा से आलस्य का परित्याग कर यज्ञ में अग्निदेव को हव्यादि प्रदान करके प्रसन्न किया करता था।[२]

क्षत्रियों की वेशभूषा साधारण नहीं होती थी। उनकी वेशभूषा उनका स्वभाव सूचक चिह्न हुआ करती थी। क्षत्रिय धनुष, कवच तथा दो तरकस धारण किया करते थे। तरकस शत्रु की दृष्टि में नहीं आते थे। ये गुप्त रूप से पीछे की ओर धारण किये जाते थे। ताकि शत्रुओं की दृष्टि उन पर न पड़े।[३] अर्जुन का कवच रत्नों से जड़ा हुआ था।[४] क्षत्रिय ब्रह्मचारी भी होते थे। वे वल्कल वस्त्र धारण करते थे और अपने क्षत्रियोचित शस्त्रों से युक्त थे।[५]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ये क्षत्रिय के शरीर को देखने से ऐसा प्रतीत होता था मानो सम्पूर्ण जगत की रक्षा के लिये उसने इसे धारण किया है तथा उस पर लक्ष्मी, तेज, धर्म, मान और विजय आदि के भाव सदैव विद्यमान रहकर उसके क्षत्रियोचित कर्त्तव्यों में रत रहने के सूचक थे।

3. वैश्य—व्यावसायिक और कृषि-कर्म का भार वैश्य वर्ग के ऊपर था। देश और समाज की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ रखना इनका परम कर्त्तव्य था। पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्याज लेना और खेती करना ये सात कर्म प्राचीन काल से ही वैश्यों के लिये नियत थे।[६] "महाभारत" में गोरक्षा, कृषि और वाणिज्य उनके व्यावसायिक कर्म माने गये हैं।[७] भारवि के महाकाव्य में वैश्य के कार्य अनेकत्र वर्णित हैं। कवि ने अनेक ऐसी वस्तुओं का वर्णन किया है जिनसे व्यापार की सहज कल्पना की जा सकती है, उदाहरणार्थ—"किरातार्जुनीय" में वस्त्रों और आभूषणों आदि का उल्लेख आया है।[८] अतः उस समय इन वस्तुओं का व्यापार अवश्य होता होगा अथवा इन अलंकारादि वस्तुओं के निर्माण

१. किरातार्जुनीय २-१८, २०-२१-२३
२. वही, १-२२
३. वही, ३-५७-५८
४. वही, ३-५८
५. वही, ६-३१-३२
६. मनुस्मृति, १-९०, कौटिल्य अर्थशास्त्र, १-३७, शुक्रनीति, १-४२
७. महाभारत, ६-४२-४४
८. किरातार्जुनीय, ८-२३-४२-५६-५७, ९-१-२

में एक वर्ग लगा रहा होगा तथा उसी वर्ग को वैश्य के अन्तर्गत रखा गया होगा। इसी प्रकार पाजेव[१], रत्नों की माला[२], कान के कुण्डल[३], कंकण[४], मोतियों के हार[५] से यह अनुमान होता है कि कवि ने वैश्य वर्ग का नाम देकर वस्तुओं के निर्माण का वर्णन भले ही न किया हो, तथापि उसने वैश्य वर्ग को स्वीकारा अवश्य है। वस्तुतः विविध उपकरणों के क्रय-विक्रय द्वारा अर्थोपार्जन किया जाता होगा तथा इन उपकरणों आदि के विक्रय करने वाले लोग सम्भवतः वैश्य वर्ग के ही रहे होंगे

४. शूद्र—सभी वर्णों में शूद्र का स्थान अन्तिम है। महत्त्व की दृष्टि से भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के पश्चात् ही इसकी गणना की जाती है। वर्णाश्रम व्यवस्था में शूद्रों का स्वरूप एवं कर्त्तव्य भी स्पष्टतः प्रतिपादित है। मनु के अनुसार शूद्र का एकमात्र कर्त्तव्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों की सेवा करना है[६] "याज्ञवल्क्य-स्मृति" में भी ऐसा ही निर्दिष्ट है।[७] शुक्र के अनुसार शूद्र का प्रधान कर्तव्य द्विजवर्ग की सेवा करना है।[८] "रामायण" में भी शूद्र का उल्लेख आया है, शम्बूक नामक शूद्र को रामचन्द्र ने स्वयं अपने हाथों से मारा था,[९] क्योंकि वह स्वधर्म से विरत हो तपस्या कर रहा था। इससे स्पष्ट है कि रामायण काल में भी शूद्र को तपस्या आदि करने का कोई अधिकार नहीं था। "किरातार्जुनीय" में वर्णाश्रम[१०] शब्द से अनुमान होता है कि कवि ने शूद्र वर्ग को स्वीकारा अवश्य है। इसके अतिरिक्त भारवि ने उत्तम वंश में जन्म लेने की बात भी अनेक स्थलों पर की है[११] अतः इससे ज्ञात होता है कि अन्य वर्ग भी अवश्य रहे होंगे। शूद्र के प्रति भारवि की दृष्टि पारम्परिक थी।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि कवि भारवि के समय वर्ण-व्यवस्था सुव्यवस्थित रूप में थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी अपने-अपने कर्त्तव्यों का अपना धर्म समझकर पालन करते थे।

१- किरातार्जुनीय ८.३, १०-४, ३१
२- वही, ८-५७
३- वही, ४.१४
४- वही, १०-४६
५- वही, ८०-४२, ५६
६- मनुस्मृति, १-९
७- याज्ञवल्क्यस्मृति, ५-१२०
८- शुक्रनीति, १-४३
९- रामायण, ७.७३-७६
१०- किरातार्जुनीय, १४-२
११- वही, १६-२८, १७-४

—:०:—

मृच्छकटिक में वर्णित न्याय समस्या, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

ओमकार सिंह त्यागी

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

श्री शालिगराम शर्मा स्मारक

डिग्री कालिज, रासना (मेरठ)

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व संस्कृत नाटककार शूद्रक द्वारा विरचित 'मृच्छकटिकम्' नाटक (प्रकरण) एक ऐसी यथार्थवादी रचना है, जो तत्कालीन समाज-शासन तथा न्याय पालिका की विभिन्न वास्तविक परिस्थितियों को हमारे सामने प्रकट करती है। इस नाटक के नवम अंक के प्रारम्भ में न्यायाधीश के माध्यम से शाश्वत न्याय-समस्या पर अत्यन्त सार्थक तथा उपादेय चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से वर्तमान काल में न्याय-व्यवस्था में पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं, लेकिन न्याय की समस्या तो पूर्ववत् ही है।

अधिकरणिक महोदय (न्यायाधीश) न्याय की दुष्करता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वादी तथा प्रतिवादी लोग न्याय से रहित अभियोग को निर्णय के लिये न्यायालय में उपस्थित करते हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन की आसक्ति से युक्त होकर वे न्यायालय में स्वयं अपने दोषों को नहीं बतलाते हैं। इसलिये वादी-प्रतिवादी के पक्षों द्वारा बढ़ गया है अपकीर्ति जनन सामर्थ्य जिसका, ऐसे निर्णय की अयथार्थता के दोष राजा पर लगते हैं, संक्षेप में, न्यायाधीश को अपकीर्ति मिलना ही सुगम है, कीर्ति तो दूर की बात है [1] और भी, न्याय से हीन मनुष्य क्रुद्ध होकर अन्य रूप में दूसरों के दोष न्यायालय में प्रस्तुत करते हैं, न्यायालय में अपने दोषों को नहीं कहते हैं, ऐसे लोगों के साथ वे बुद्धिमान सज्जन भी निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं जो वादी

(१) छन्न कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतम्

स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूताः स्वयम्

तै. पक्षापरपक्षवर्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते

सक्षेपादपवाद व सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥ ६ ॥ ३

या प्रतिवादी के दोष में साथ होकर पाप करते हैं (वाद में आरोपित होते) हैं[1] आगे न्यायाधीश महोदय अपने पद की योग्यता का कथन करते हैं कि अधिकरणिक (न्यायमूर्ति) तो शास्त्रों का ज्ञाता वादी तथा प्रतिवादी द्वारा किये गये कपट को समझने में कुशल, वक्ता तथा क्रोधरहित होता है। वह मित्र शत्रु, तथा स्वजनों में समान दृष्टि रखने वाला, वादी-प्रतिवादी के व्यवहार को देखकर निर्णय देने वाला, दुर्बलों का रक्षक, धूर्तों को दण्ड देने वाला धर्मयुक्त होता हैं तथा लोभी नहीं होता। उपाय रहते दूसरों की यथार्थ बात को जानने में दत्तचित्त तथा राजा के कोप को नष्ट करने वाला होता है।[2]

नाटक का नायक चारुदत्त यद्यपि एक साधारण व्यक्ति है तथापि उसका उदात्त चरित्र दुर्लभ तथा स्पृहणीय है। प्रतिद्वन्द्विता के कारण द्वेष करने वाले शकार को छोड़कर नाटक का प्रत्येक पात्र उसकी हृदय से प्रशंसा करता है। साथ ही यह भी सत्य है कि नाटक को पढ़ने वाला कोई भी पाठक चारुदत्त की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। उसका चरित्र समाज के लिये अनुकरणीय है। चारुदत्त के श्रेष्ठ गुणों से प्रभावित होकर जो वसन्तसेना चारुदत्त पर आसक्त है उसकी ही हत्या का आरोप दुष्ट शकार चारुदत्त पर लगा देता है और स्वयं बसन्तसेना का गला दबाकर दोष चारुदत्त पर आरोपित कर उसे न्यायालय से मृत्यु दण्ड दिलाने में सफल हो जाता है, वह दूसरी बात है कि बसन्तसेना बच जाती ह और स्वयं वध्यशाला पर आकर चारुदत्त के प्राणों की रक्षा करती है। वह चारुदत्त इतना उदार है कि अपने जीवन को नष्ट करने का षड्यन्त्र रचने वाले तथा अपने से ही अनुराग रखने वाली वसन्तसेना का गला घोटने वाले शकार को क्षमा कर देता है। क्या ऐसे उदात्त चरित्र में दोष की कल्पना की जा सकती है? न्यायाधीश स्वय चारुदत्त की निर्दोषता के सम्बन्ध में पूर्णतया आश्वस्त है लेकिन अन्त में चारुदत्त को दण्ड देने के लिये विवश हो जाते हैं। वसन्तसेना की वृद्धा माता चारुदत्त की निर्दोषता के विषय में इस सीमा तक आश्वस्त है कि वह न्यायाधीश से स्वयं चारुदत्त के प्राणों की रक्षार्थ प्रार्थना करती है—**प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वार्यमिश्राः तद्यदि व्यापादिता मम दारिका व्यापादिता। जीवतु मे दीर्घायुः। अन्यच्च। अर्थी प्रत्यर्थिनोर्व्यवहारः। अहमर्थिनी। तन्मुञ्चतैनम्।**

---

(१) छन्न दोषमुद्राहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृताः
स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे सन्तोऽपि नष्टाध्रुवम्।
ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः पापानि संकुर्वते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः॥ ६॥ ४

(२) शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन
स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः।
क्लीबान्पालयिता शठान्व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
द्वांभावे परतत्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः॥ ६॥ ५

यहाँ पर चारुदत्त एक निर्दोष व्यक्ति का प्रतीक है। चारुदत्त जैसे निष्पाप व्यक्ति को भी न्यायालय की परिस्थितियों के कारण मृत्यु दण्ड भुगतने के लिये विवश कर दिया जाता है, यही न्याय की शाश्वत समस्या है। न्यायाधीश अच्छी तरह जानते हैं कि चारुदत्त इस प्रकार का अपराध नहीं कर सकता है तो कौनसी परिस्थितियाँ उन्हें चारुदत्त को दण्डित करने के लिए बाध्य करती हैं? समर्थ न्यायाधीश लोग मात्र मूक दर्शक बन कर रह जाते हैं। न्याय-व्यवस्था की इस घोर विडम्बना को चारुदत्त ने स्वयं ही अपने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है कि 'कौआ श्वेत है, इस प्रकार विश्वास दिलाने वाले राजा के शासन के दूषित करने वाले ऐसे न्यायाधीशों के द्वारा सहस्रों निरपराध व्यक्ति मारे गये हैं तथा मारे जा रहे हैं।[1] 'चारुदत्त का उपर्युक्त कथन वर्तमान समय में भी पूर्ववत् प्रासंगिक है।

न्याय-व्यवस्था में पुलिस का प्रथम तथा महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान काल में किसी भी वाद की जाँच-पड़ताल कराने का दायित्व कार्यपालिका का है जिसे वह पुलिस के माध्यम से सम्पन्न कराती है। वाद पंजीकृत होते ही न्याय-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, पुलिस भी उसमें समान रूप से सहभागी है। यदि पुलिस अधिकारी अपने महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह न कर पाये तो न्याय की कल्पना करना निरर्थक है। मृच्छकटिक में हम देखते हैं कि वाद प्रस्तुत करने वाला शकार पुलिस अधिकारी भी है और वह स्वयं वसन्तसेना का गला घोटकर हत्या का दोष चारुदत्त पर आरोपित कर देता है। जब न्यायाधीश नगर रक्षक वीरक को मामले की जांच का आदेश देते है तो वह गम्भीरतापूर्वक समुचित जाँच कार्यवाही पूरी न करके अपनी आख्या न्यायालय को प्रस्तुत कर देता है कि उसने पुष्पकरण्डक उद्यान में पशुओं द्वारा खाये जाते हुये वसन्तसेना के शव को अपनी आँखों से देखा है और इस प्रकार पुलिस अधिकारियों के व्यक्तिगत दुराग्रह तथा प्रमाद से सर्वथा निर्दोष चारुदत्त मृत्यु दण्ड को प्राप्त होता है। सारांश यह है कि न्याय के पवित्र तथा गुरुतर दायित्व को न्यायाधीशों तक सीमित नहीं किया जा सकता है। वे एकमात्र रूप में अकेले न्याय के भारी दायित्व को वहन करने में पूर्णतया सक्षम नहीं हो सकते। वाद की विवेचना पुलिस द्वारा की जाती है अतः यदि उसमें अपने दायित्व बोध की अनुभूति न हो, तो न्याय का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता है और न्यायालय का निर्णय वाद के सत्य के अनुरूप सम्भव नहीं हो सकता है।

वर्तनमान काल मे वादी तथा प्रतिवादी अपने-अपने अधिवक्ता के साथ ही न्यायालय में प्रस्तुत होते हैं। जो व्यक्ति किसी अधिवक्ता को अपना प्रतिनिधि स्वीकार करता है तो अधिवक्ता द्वारा अपने पास में आये हुये व्यक्ति के पक्ष (वाद) को स्वीकार करना एक सिद्धान्त तथा कर्त्तव्य के रूप में माना जाता है। प्रायः

(१) ईदृशैः श्वेतकाकीयैः राज्ञः शासनदूषकैः।
अपापानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥ ६ ॥ ५

यह स्वीकार किया जाता है कि अधिवक्ता का काम न्यायाधीश के समक्ष अच्छे से अच्छे तर्क प्रस्तुत करना है और निर्णय देना तो न्यायाधीश का काम है। दोनों पक्षों के अधिवक्ताओं की बहस के मध्य से ही सत्य प्रकट होगा और न्यायाधीश न्याय कर सकेगा। प्राय: व्यवहार में देखा जाता है कि अधिवक्ता यह जानते हुये भी प्रबलतम रूप में बहस करते हैं कि उनका पक्ष पूर्णतया दोषी है। परिणामस्वरूप न्यायालयों से अपराधी लोग छूट जाते हैं और चारुदत्त तुल्य सर्वथा निर्दोष व्यक्ति दण्डित हो जाते हैं। यह सोच कि दोनों पक्षों के अधिवक्ताओं की बहस सत्य को उद्घाटित करेगी, प्रमुख रूप से निम्न मान्यताओं पर आधृत है। दोनों अधिवक्ता समान रूप से अपने विषय में कुशल होते हैं और न्यायालय को भटकाने का कदापि प्रयास नहीं करते तथा न्यायाधीश बहस के मध्य से सत्य का पता लगाने में समर्थ होते हैं। व्यावहारिक रूप से देखने पर यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि उपरिलिखित मान्यताओं में से आज एक भी सत्य नहीं है।

देखने में आता है कि असत्य का आश्रय लेने वाले लोग अधिक प्रतिभावान, प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली अधिवक्ताओं की सहायता लेते हैं। उनके पास अधिक संसाधन विद्यमान होते हैं और वे अधिवक्ता भी अपनी पूर्ण क्षमता के साथ अपने मुकदमे (अपने पक्ष) के प्रति पूर्ण निष्ठावान होते हैं, न्याय के प्रति नहीं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह असत्य तथ्यों का भी सहारा लेते हैं जिनकी प्रविष्टि से न्याय की संभावनायें क्षीण हो जाती हैं।

ज्वलन्त प्रश्न यह है कि यदि न्याय-प्रक्रिया से सम्बन्धित लोगों का एकमात्र उद्देश्य न्याय नहीं है, तो ऐसी स्थिति में उचित न्याय की उपलब्धि कैसे संभव हो सकती है। न्याय-प्रक्रिया से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति यदि न्याय कार्य को न्यायाधीशों तक ही सीमित स्वीकार कर लेगा, तो फिर न्यायाधीश के पास कौन सा अलादीन का चिराग है जिसकी सहायता से वह न्याय करने में पूर्णतया सक्षम हो सकता है। दूसरी बात यह है कि एक ही उद्देश्य की प्राप्ति में लगे हुये लोगों का उद्देश्य एक ही होना चाहिये, भिन्न-भिन्न उद्देश्य नहीं। न्याय-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग होने के नाते अधिवक्ता का यह पावन दायित्व हो जाता है कि वह दोषी को निर्दोष प्रमाणित करने के स्थान पर न्यायाधीश को सत्य तक पहुंचने में सहायता करे। अत: उसे न्यायालय में वे सब तथ्य प्रस्तुत करने चाहियें जो उसके पक्ष के विरुद्ध जाते हैं। उचित तो यह है कि यदि कोई व्यक्ति अपराध करता है ना उसे हृदय से अपना अपराध स्वीकार करना चाहिये और दण्ड को शिरोधार्य करना चाहिये। यदि कोई दोषी व्यक्ति न्याय-मन्दिर का दुरुपयोग करना चाहता है तो अधिवक्ता को इस अनुचित कार्य का भागीदार कदापि नहीं होना चाहिये। दण्ड भोगना अपराध करने से अधिक लज्जाजनक बिल्कुल नहीं है।

न्याय प्रक्रिया की दुर्बलताओं को दृष्टि में रखकर समाज में माना जाता

है कि अपराध और उसका दण्ड ये दोनों भिन्न वस्तु हैं और इन दोनों का परस्पर साक्षात् अधिक सम्बन्ध नहीं है। अपराध करने वाला प्रत्येक व्यक्ति दण्डित नहीं होता और अपराध न करने वाला निर्दोष व्यक्ति भी न्यायालय से दण्डित हो जाता है। इससे अनुचित परम्परा की उत्पत्ति होती है। समाज में अपराधों में वृद्धि होती है और यह धारणा बलवती होती है कि अपराध करने से दण्ड का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है तथा न्याय प्रक्रिया की दुर्बलताओं का सहारा लेकर दण्ड से मुक्ति संभव है। अधिवक्ता की दृष्टि में अपने पक्ष का हित सर्वोच्च नहीं अपितु न्याय ही सर्वोच्च होना चाहिये। वकालत को मात्र धन कमाने का व्यवसाय स्वीकार करना उचित नहीं है। न्याय-प्रक्रिया में सहभागी बनना एक पवित्र सामाजिक दायित्व है। यह समाज-सेवा है, मात्र व्यवसाय नहीं है। अपराधी को दण्ड तथा निर्दोष को मुक्ति यह न्याय की मूल भावना है तथा एक अधिवक्ता का एकमात्र लक्ष्य यही होना चाहिये। यदि अधिवक्ता लोग सही वाद ही स्वीकार करने लगेंगे तो न्याय की दिशा में नितान्त उचित कदम होगा। अपराध समस्या का बहुत कुछ निराकरण संभव हो सकेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि न्याय की समस्या तो शाश्वत है और आधुनिक युग में वह अपने उसी पुरातन स्वरूप में वर्तमान है। मृच्छकटिक नाटक के रचयिता ने जिस न्याय की समस्या की ओर हमारा ध्यान हजारों वर्ष पूर्व आकर्षित किया था वह आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। जब तक न्याय-प्रक्रिया से जुड़े हुये सभी लोग न्याय के प्रति पूर्ण निष्ठावान नहीं होंगे, न्याय की समस्या यथावत् बनी रहेगी। न्यायालय न्याय-मन्दिर है जिसमें एकमात्र न्याय ही अपेक्षित है।

—: o :—

संस्कृत रूपकों में प्रहसन परम्परा

डॉ० उमेश दत्त भट्ट

3F/१, शिवकोठि, इलाहाबाद—२११००४

(i) रूपक का स्वरूप एवं प्रकार

भरताचार्य ने रूपक के दस भेद किये हैं—

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः ॥
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशेमे नाट्यलक्षणे।
एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥

नाट्यशास्त्रम्, अ०—१८

रूपक के इन्हीं दस भेदों का समर्थन सभी परवर्ती आचार्यों द्वारा भी किया गया है। हाँ प्रहसनकार 'बोधायन' ने भगवदज्जुकीम में 'नाटक प्रकरणोद्भवासु वारेहामृगडिम समवकार व्यायोगभाणसंल्लापवीथ्युत्सृष्टिकाङ्क प्रहसनादिषु दश जातिषु'[1], लिख कर कतिपय विद्वानों को तरह तरह की अटकलों के लगाने में भ्रमित अवश्य कर दिया।

अतएव इसी सातत्य में उक्त उद्धरण में आये 'वार' तथा 'संलाप' की चर्चा करना एवं सत्संबंधी भ्रामक मान्यताओं का निराकरण किया जाना अप्रासंगिक न होगा।

'वार' तथा 'संलाप' को, एम० विंटरनिट्ज महोदय ने रूपक की दश-विधाओं में, 'बोधायन' के अनुसार 'नाटक' तथा 'प्रकरण' से प्रादुर्भूत बताकर स्वयं समस्याओं के आवर्त में घिर गये। विंटरनिट्ज महोदय ने 'संलाप' को 'संल्लापक' से जोड़ने की कल्पना तो कर लिया परन्तु 'वार' के विषय में कोई भी समाधान नहीं कर सके।[2] वह सकारण यह भी स्पष्ट नहीं कर सके कि 'वार' तथा

---

१. भगवदज्जुकीयम् प्रहसनम्—पृष्ठ ४/५

२. 'Sallapa (Sallāpa) i. e. Sanilapaka or 'discourse' appear as a type of drama elsewhere, but Vara (vārā) seems to be otherwise quite unknown.

Bhagvadajjukiyam : Preface by : M. Winternitz.

'संलाप' को रूपकों में गिना जाय अथवा उपरूपकों में ।[1]

श्री अशोक नाथ भट्टाचार्या ने इन समस्याओं को उठाया अवश्य परन्तु उन्होंने भी येन केन प्रकारेण रूपक के बारह भेदों की कल्पना 'भगवदज्जुकीयम्' के उक्त उद्धरण के आधार पर स्वीकार[2] की जो कि पूर्णतः आधार विहीन है क्योंकि—

१. 'संलाप' तथा 'वार' को किसी भी नाट्य लक्षण ग्रन्थ में रूपक के रूप में स्वीकार ही नहीं किया गया है । 'वार' का तो रूपक अथवा उपरूपक के रूप में कहीं नाम तक नहीं लिया गया है ।

२. 'भगवदज्जुकीयम्' का कवि जब रूपकों की चर्चा कर रहा है तो वह उसमें उपरूपकों को समाविष्ट करने की भूल नहीं कर सकता क्योंकि 'नाटक-प्रकरणोद्भवासु..........' के अन्त में वह 'प्रहसनादिषु दश जातिषु.........' के अतिरिक्त किसी अन्य रूपक का विधान ही स्वीकार नहीं कर रहा है ।

३. 'बोधायन' कवि के उक्त उद्धरण के अनुसार यदि नाटक तथा प्रकरण से शेष 'वारेहामृगडिमसमवकारादि' को प्रादुर्भूत मान भी लिया जाय तब तो फिर रूपक प्रमुखतः दो ही हुये—'नाटक' तथा 'प्रकरण', इसके अतिरिक्त अन्य वर्णित विधायें उपरूपक हुईं; लेकिन 'नाटक' तथा 'प्रकरण' के अतिरिक्त अन्य वर्णित विधाओं को किसी लाक्षणिक ने उपरूपक के रूप में निरूपित ही नहीं किया ।

दशरूपककार धनञ्जय से लेकर विश्वनाथ कविराज तक सभी विद्वानों ने नाट्यशास्त्र में गिनायी गयी रूपक की दस विधाओं के अतिरिक्त किसी अन्य विधा की चर्चा ही नहीं किया । इन सभी विद्वानों ने नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत मुनि द्वारा गिनायी गयी रूपक की दश विधाओं का तथावत् अनुमोदन किया है । ऐसी स्थिति में 'वार' तथा 'संलाप' को रूपक की अथवा उपरूपक की विधा के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

---

1. Now we are to take up the question whether we are to call sallapa and Vara rupakas or uprupakas. Our author (i. e. Prof. M. Winternitz) is silent on the point.

   'Bhagwadajjukiyam (some new problems)' summaries of paper's submitted to the Fourth Oriental Conference Allahabad—1926, page 49—51, by A. N. B attacharya.
2. It would not be, therefore, wrong to add the prologue give us a list of no less than 12 rupakas insted of ten–I bid.

अतः 'वार' तथा 'संलाप' इस स्थान पर न तो रूपक हैं और न उपरूपक ही । ये दोनों ही शब्द अपने शाब्दिक अर्थ के कारण यहाँ सन्निविष्ट किये गये हैं ।

'वार' शब्द वास्तव में अपने शाब्दिक अर्थ की प्रतीति के कारण नाटक, प्रकरण के पश्चात 'बोधायन' द्वारा प्रयुक्त किया गया है न कि रूपक अथवा उपरूपक के अर्थ में; जिसका आशय 'द्वार' अथवा 'कपाट'[1] से है । तात्पर्य यह है कि 'ईहामृगडिमसमबकरादि.........' रूपकों के उद्भव का द्वार 'नाटक' तथा 'प्रकरण' हैं । 'नाटक' तथा 'प्रकरण' नाट्यशास्त्रीय विधानों के अनुरूप सर्वाङ्गीण होते हैं इसलिये कवि ने 'नाटक' एवं 'प्रकरण' को शेष आठ रूपकों से अलग रक्खा है तथा इन्हीं से अन्य रूपकों का उद्भव माना है । आचार्य भरत मुनि ने भी जहाँ रूपक के भेदों की चर्चा की है वहाँ दसों रूपकों को एक साथ गिनाया है ।[2] परन्तु जब शास्त्रीय दृष्टिकोणों पर लाक्षणिक विवेचन की बारी आयी तो नाटक

१. वारः (वृ—घञ्)—1. Door, gate,—Prin Vaman Shivram Apte's—The Practical Sanskrit English Dictionaiyr Ed. P. K. Gode & C. K. Karve—1959.

× × ×

वारः सूर्यादिदिवसे वृन्दावसरयोः क्षणे ।
द्वारे हरे कुञ्जवृक्षे वारं स्याद्वालकेऽम्बुनि ।।

पृष्ठ २६०

अर्गला त्रिषु कल्लोले दण्डे वार कपाटयोः पृष्ठ ३०१

SABDARATNA SAMANVAY KOSA —OF King Shahaji of Tanjore,

Baroda Oriental Series—1932

× × ×

वारः—वृ—घञ् । १- सङ्घे २- अवसरे ३- द्वारे ४- शिवे ५- कुञ्ज-वृक्षे ६- क्षणे

'वाचस्पत्यम्' भाग ६ पृष्ठ ४८८१

सं० तारानाथ भट्टाचार्य

२. नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च ।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसन डिमः ।।
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशेमे नाट्यलक्षणे ।

नाट्यशास्त्रम् —१८/२-३

तथा प्रकरण को शेष आठ रूपकों से गुणों के आधार पर अलग कर दिया है।[१]

इसी प्रकार 'भाण' के पश्चात् प्रयुक्त 'संलाप' शब्द की भी स्थिति है जिसका अर्थ 'प्रलाप', 'आलाप' अथवा 'चिल्लाने' से है। इसका प्रयोग 'भाणस्य संलाप' के अर्थ में हुआ है, न कि 'भाणश्च संलापश्च' के रूप में, रूपक अथवा उपरूपक के लिये। अभिधान ग्रन्थ भी 'संलाप' शब्द की यही व्याख्या करते हैं।[२]

डॉ० रामजी उपाध्याय के अनुसार भगवदज्जुकीयम् में प्रयुक्त 'वार' शब्द संभवतः अभिनव भारती में आया 'पार' शब्द है।[३] डॉ० उपाध्याय के इसी संदेह को संभवतः मूर्तरूप देते हुये देवभाषा प्रकाशनम् प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'भगवदज्जुकम्' प्रहसन में 'वार' के स्थान पर 'पार' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

यह 'पार' शब्द भी वास्तव में अपने शाब्दिक अर्थ की प्रतीति के अधिक समीप है जिसका आशय 'तीर'[४] 'किनारा' अथवा अभिभावक[५] से है। यह प्रतीति 'पार' को 'रूपक' अथवा 'उपरूपक' के किञ्चित समीप नहीं आने देती परन्तु नाटक तथा प्रकरण के वैशिष्ट्य को अन्य आठ रूपकों की अपेक्षा अवश्य सबलता प्रदान करती है जिस सबलता के कारण भरत मुनि ने 'नाटक' तथा 'प्रकरण' को सर्ववृत्तनिष्पन्नं' 'कहकर सम्बोधित किया है।

(ii) हास, हासोत्पत्ति तथा हास के प्रकार

नाट्य शास्त्र के आठ नाट्यरसों[६] में 'हास्य' रस का महत्वपूर्ण स्थान है।

---

१. ज्ञेयं प्रकरणं चैव तथा नाटकमेव च।
सर्ववृत्तिविनिष्पन्नं नानाबन्धसमाश्रयम्॥
वीथी समवकारश्च तथेहामृग एव च।
उत्सृष्टिकाङ्को व्यायोगो भाणः प्रहसन डिमः॥
कैशिकी वृत्ति हीनानि रूपाण्येतानि कारयेत।
अतः उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि काव्यबन्ध विकल्पनम्॥
नाट्यशास्त्रम्—१८/७-९

२. शब्दरत्नसमन्वयकोष पृष्ठ-६३
× × ×
Practical Sanskrit English Dictionary—Prin Vaman Shivram Apte page—1588 Prasad Prakashan, Poona.

३. मध्यकालीन संस्कृत नाटक—अध्याय १२ डॉ० रामजी उपाध्याय।

४. शब्दस्तोममहानिधिः—श्री तारा नाथ भट्टाचार्य

५. Sanskrit-English Dictionary—M. Monier William.

६. काव्य प्रकाशः—४/२९

'हास्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'हास्' धातु के 'घञ' एवं 'ण्यत्' प्रत्यय के योग से हुयी है। 'हास्य' रस का स्थायी भाव 'हास' है।[1] यह चित्त की एक सहज व स्थिर प्रवृत्ति है।

जीवन में हास्य का समाहार उसकी निस्सारता को नष्ट करता है। संभवतः इसी कारण एक दुःखी व्यक्ति के दुख को दूर करने हेतु सामाजिकों द्वारा उसको हंसा कर रिझाने का प्रयास किया जाता है। ऐसे क्षणों में उस व्यक्ति को शृंगारिक वस्तुयें उतना प्रभावित नहीं कर पातीं जितना कि विकृत आचार विचार, भाषा, व्यंग्यार्थ एवं वेषालंकार। ये सब क्रियायें हास का विभाव हैं[2] जिनका आश्रय चतुर्विध अभिनय[3] है। इन अभिनयों में ओष्ठ दशन, नासिका व कपोलों का स्पन्दन, दृष्टि संकोचन एवं आवश्यकतानुसार व्यग्य मुद्रा में दृष्टि का विमोचन व विस्फारण आदि प्रमुख हैं। इन्हें अनुभाव कहते हैं। निद्रा तन्द्रा, स्वप्न, असूया प्रबोध तथा अवहित्थ इसके व्यभिचारी भाव हैं। यहीं भाव, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों का योग 'हास' का उत्पादन कर मनुष्य में एक विलक्षण आनन्द का स्रोत प्रवाहित करता है जिसे 'हास्य-रस' कहा जाता है। रस का यह आनन्द काव्य से ही प्राप्त होता है[4] चाहे वह दृश्य हो अथवा श्रव्य। दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। आचार्य भरत के अनुसार रस के बिना किसी अर्थ का प्रवर्तन ही नहीं होता।[5] रस काव्य की आत्मा है।[6] विश्वनाथ कविराज ने तो रसात्मक वाक्यों को ही काव्य निरूपित किया है।[7] इस प्रकार रस की व्यापकता को आचार्यों ने अपने अपने अनुकूल स्वीकार किया है।

स्वानुभूति के अनुसार यदि किसी कवि को कोई विशेष रस रुचा हो तो यह उस कवि की हृदय विदग्धता है[8] अन्यथा आठ रसों में 'शृगार' रस को ही व्यापक व सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। 'हास्य' के पुट के बिना 'शृंगार' का अस्तित्व

१- नाट्य शास्त्रम्—अ०-६

२- अथ हास्यो नाम स्थायी भावात्मकः। स च विकृत परिवेषालंकार धार्ष्ट्यलौल्य कुहकासत्प्रलाप व्यंग्यदर्शन दोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पाद्यते।
नाट्यशास्त्रम्—अ० ६

३- साहित्य दर्पणम्—६/२ विश्वनाथ कविराजः

४- अग्नि पुराणम्—३३६/१-२

५- नाट्य शास्त्रम्—अ०·६

६- काव्य मीमांसा—राजशेखर

७- साहित्य दर्पणम् —विश्वनाथ कविराजः

८- एकोरसः करुण एव निमित्त भेदात् —उत्तररामचरितम् — भवभूति

अधूरा सा प्रतीत होता है क्योंकि हास्य का साहित्यिक आस्वादन व लौकिक अनुभव साक्षात है । अतएव हास्य शृंगार का अनुप्राण है । उसका अलंकार है ।[1]

आचार्य भरत ने वस्तुतः शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स रसों को ही प्रमुख माना है । 'हास्य, करुण, अद्भुत व भयानक' रसों को क्रमशः उपरसों की श्रेणी में रक्खा है ।[2]

काव्यार्थ के साथ तादात्म्य के फलस्वरूप एक प्रकार के अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति ही 'रस' या साहित्यिक स्वाद है । इन साहित्यिक स्वादों का सम्बन्ध चित्त की चार विभिन्न अवस्थाओं [3] से निम्न प्रकार है—

त्तिच की अवस्थायें	इन अवस्थाओं का स्वाद	
१. विकास	शृगार	हास्य
२. विस्तार	वीर	अद्भुत
३. क्षोभ	वीभत्स	भयानक
४. विक्षेप	रौद्र	करुण

एक एक अवस्था के दो दो स्वाद हैं । ये स्वाद ही आठ रसों के कारण हैं । इस प्रकार शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, वीभत्स से भयानक तथा रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति होती है ।

पुनश्च नाट्यशास्त्र में कहा गया है—'शृङ्गारानुकृतिर्यस्तु स हास्य इति संज्ञितः [4], अर्थात् हास्य की उत्पत्ति हास्य आदि (विभावादि) के कारण होती है न कि शृङ्गारादि के द्वारा । जो शृङ्गार की अनुकृति है वह हास्य कहलाती है । इस प्रकार शृङ्गार के साथ हास्य का समावेश स्वाभाविक है दोनों का ही सम्बन्ध चित्त के विकास से है ।[5]

हासोत्पत्ति के मूल कारण के सम्बन्ध में पौरस्त्य तथा पाश्चात्त्य विद्वानों में मतैक्य नहीं है ।[6] भरताचार्य शृगार से हास्य की उत्पत्ति मानते हैं ।[7] शारदातनय रजोगुण की हीनता को हास्य का कारण मानते हैं ।[8] पश्चात्य साहित्य-कारों की

१. संस्कृत में एकांकी रूपक— डॉ० वीर बाला शर्मा

२. शृंगाराद्धि भवेद्धास्यों रौद्राच्च करुणोरसः ।
वीराच्चेवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ।।
नाट्यशास्त्रम्-—/३९

३. दशरूपकम्—४/४३, ४४

४. नाट्यशास्त्रम—६/४०

५. प्रीतिर्विशेषः चित्तस्य विकासो हास्य उच्यते ।—भाव प्रकाशः

६. संस्कृत में एकांकी रूपक—डॉ० वीर बाला शर्मा

७. नाटयशास्त्रम्—७/३९

८- रजोहीनत्वाद हास्य संभवः ।'—भाव प्रकाशः

दृष्टि में मनुष्य की स्वाभाविक भावनायें लोभ मोहादि हास्य के उत्पादक हैं।[1] अंग्रेजी समालोचक मूर्खतापूर्ण क्रिया कलाप को ही विदूषक की प्रवृत्ति मानते हैं।[2] मतवैषम्य के उपरान्त भी प्रकारान्त से विद्वानों के चिंतन में गंभीर साम्य है। उनके वैचारिक विश्लेषण से यह बात स्पष्ट लक्षित होती है कि हास्य का कारण विपर्यय, असंगति, स्वांग, वक्रोक्ति तथा अनौचित्य है। भरताचार्य ने नाट्यशास्त्र में अनौचित्य को हास्य का कारण निरूपित किया है।[3] परचेष्टाओं का अनुकरण भी हास्योत्पादक है।[4] पाश्चात्य आलोचक अरस्तु[5], लाङ्गनिस[6], होरेश[7] तथा तथा पोप भी अनौचित्य को हास्य का कारण मानते हैं।[8]

"स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते दन्ता केशा नखाः नराः" की उक्ति अन्य रसों के लिये यथार्थ है परन्तु हास्य के लिये सत्य। जो वस्तु एक स्थान पर अनौचित्यपूर्ण प्रतीत होती है, दूसरे स्थान पर वही परिस्थिति विशेष के कारण औचित्य पूर्ण कही जा सकती है। किसी व्यक्ति की अनुचित वेष-भूषा व भाषा सामान्य रूप से अनुचित कही जा सकती है परन्तु यदि यह हास्योत्पादन हेतु अनुकृत है तो औचित्यपूर्ण है।[9]

इस प्रकार अन्य रसों की अनौचित्यपूर्ण परिस्थितियाँ ही हास्यौचित्य हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने संभवतः इसी आधार पर करुण तथा वीभत्स आदि रसों में भी हास्य की सृष्टि स्वीकार की है—'तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम्।[10]

औचित्य का विस्तार प्रकारान्त से अनौचित्य की सीमा निर्धारण का बाधक है, कारण यह कि आवश्यकतानुसार औचित्य का विपरीत रूप भी तो प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार हास्योत्पादक कारण असीम हैं। ये सभी कारण अन्य क्षेत्रों में अनुचित हो सकते हैं परन्तु हास्य रस के दृष्टिकोण से उचित होते हैं।

१- संस्कृत में एकांकी रूपक—डॉ० वीर बाला शर्मा

२- The Sanskrit Drama—keith

३- अनौचित्य प्रवृत्तिमेव ही हास्य विभावत्त्वम्।

नाटय शास्त्रम्-अ०.६

४- तथैव ७/१०

५- रेटारिक ३/७-२४५

६- आन द सब्लाइम—लाङ्गनिस

७- आर्ट पोएटिका—होरेश

८- ऐसे आफ क्रिटिसिज्म—पोप

९- औचित्य विचार चर्चा-क्षेमेन्द्र- 'प्रभा' संस्कृत हिन्दी व्याख्या, अवतारण पृष्ठ-११

१०- अभिनव भारती।

अवस्था के विपरीत वेष, वेष के विपरीत गति व क्रिया, पाठ्य के विप्रकृत अभिनय वर्ज्य[1] व अनुचित तो हैं परन्तु हास्योत्त्पादक भी। एवं विधि उत्पन्न हास[2] को दो भागों में विभक्त किया गया है—आत्मस्थ व परस्थ। हास्योत्पादक विषयों को देखने मात्र से उत्पन्न हास्य आत्मस्थ है तथा जो दूसरों को हंसता देखकर सहज ही उत्पन्न हो जाता है उसे परस्थ कहते हैं।[3]

हास्य का स्वरूप उत्तम मध्यम तथा अधम पुरुषों में भिन्न भिन्न है।[4] उत्तम प्रकृति के पुरुषों का स्मित तथा हसित, मध्यम का विहसित तथा उपहसित[5] एवं अधम पुरुषों का अपहसित तथा अतिहसित कोटि का हास होता है। हास की प्रकृति के अनुसार इन छः प्रकार के हासों[6] को प्रहसन में व्यापकता से प्रयुक्त किया जाता है।[7]

(iii) प्रहसन—उत्पत्ति, स्वरूप एवं प्रकार

परचेष्टाओं का अनुकरण हास्योत्त्पादक[8] होता है। नाटकों में ऐसी चेष्टायें विदूषक द्वारा अनुकृत हो हास्य उत्पन्न करती हैं। विदूषक विशेष कोटि का पात्र होता है[9]। इसकी गति हास्योत्त्पादक[10] व मनोविनोद की वृद्धि करने वाली होती है। नाटकों में यह सह नायक के रूप में कार्य करता है।

नाटकों में वीर अथवा शृङ्गार कोई एक रस ही अङ्गी रस हो सकता है[11] तथा हास्य अङ्ग रूप में प्रासङ्गिक कथावस्तु में विद्यमान होता है। प्रहसन में हास्य अङ्गी रस है।

हास्य उत्पन्न करने वाले चेट, चेटी, वेश्या, विट, धूर्त पाखण्डी आदि विशेष कोटि के पात्रों के क्रिया-कलाप एवं अभिनय की प्रधानता जब रूपक को हास्य प्रधान बना देती है, तब यह 'प्रहसन' कहलाता है। इसमें हास्य के अतिरिक्त अन्य रसों का स्थान गौण होता है।

१- नाट्यशास्त्रम्—अ०-१४
२- तथैव अ० ६
३- तथैव-तत्रैव
४- तथैव ६/५२-५३
५- रसगङ्गाधर —पण्डितराज जगन्नाथ
६- नाट्यशास्त्रम् ६/५१
७- हास्यस्तु भूयसा कार्यः षटप्रकारैस्ततस्ततः। —भाव प्रकाशः
८- नाट्यशास्त्रम् ७/१०
९- तथैव ५/४१
१०- तथैव १२/१३७/१४५
× × ×
विदूषकोऽपि सर्वत्र विनोदेषूपयुज्यते—भाव प्रकाशः -१०/२८९
११- दशरूपकम् ३/३३-३४

'प्रहसन की कथावस्तु कवि-कल्पित (उत्पाद्य) होती है[1], तथा सन्धि (मुख व निर्वहण) सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग, भारती तथा कैशिकी वृत्ति युक्त एवं अंकों[2] का विधान भाणवत् है।[3] भाण तथा अङ्क का रूप निर्देश एकाङ्की है।[4] अतः प्रहसन भी एकाङ्की होता है, चाहे वह शुद्ध हो अथवा संकीर्ण--

'प्रहसनस्याङ्क नियमानभिधानात् शुद्धमेकाङ्कं, संकीर्णत्वेनेकङ्कं वेश्यादि चरित संख्यावलादिति—केचित्'—'अभिनव भारती'

शुद्ध प्रहसन का स्वरूप :

अविकृत भाषा चार विशेष भावोपपन्न चरितपदम् ।
नियतगति वस्तु विषयं शुद्धं गेयं प्रहसनम् तु ।।[5]

संकीर्ण प्रहसन का स्वरूप :

वेश्या चेट नपुंसक विट धूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः ।
अनिभृत वेशपरिच्छदचेष्टि करणैस्तु संकीर्णम्[6] ।।

प्रहसनों के विभेद के विषय में सागरनन्दी[7] तथा नाट्यदर्पण[8]-कार में मतैक्य है। सागर नन्दी ने 'भगवदज्जुकीयम्' को संकीर्ण प्रहसन माना है।

शारदातनय ने संकीर्ण (सैरन्ध्रिका), शुद्ध (सागर कौमुदी) तथा विकृत तीन प्रकार के प्रहसनों को स्वीकार किया है[9]। सिंग भूपाल को इसके 'शुद्ध', 'कीर्ण' तथा 'विकृत' तीन रूप अभिप्रेत' हैं[10]।

धनञ्जय[11] के अनुसार शुद्ध प्रहसन पाखण्डी, विप्र, चेट, चेटी तथा विट आदि से भरा होता है तथा जो हास्य वचनों से परिपूर्ण होता है।

विकृत प्रहसन कामुक जनों के बोलने वाले एवं उनके वेष को धारण करने वाले नपुंसकों, कञ्चुकियों तथा तपस्वियों से युक्त होता है; तथा जो वीथी के

१. साहित्य दर्पणः ६/२६४,६/२२७-२३० विश्वनाथ कविराज ।
२. भाणवत् प्रहसनम् तत्—भाव प्रकाशः, शारदातनय ।
३. नाटक परिभाषा—२७६, सिंग भूपालः ।
× × ×
वैमुख्य कार्यं वीथ्यङ्गिख्यात······नाट्य दर्पण-२३
४. नाट्यशास्त्रम्—अध्याय-१८/१०:-१०७
५. तथैव-तत्रैव
६. तथैव-तत्रैव
७. तद्द्विविधं शुद्ध संकीर्ण च। नाटक लक्षणरत्नकोष—सागर नन्दी ।
८. ······वृत्तिः प्रहसनं द्विधा; नाट्य दर्पण-२३
९. भावप्रकाशः अधिकार-८.
१०. नाटक परिभाषा—२८५-२८९, सिंग भूपाल
११. दशरूपकम्—३/५४-५६

अङ्गों से मिश्रित व धूर्तों से भरा होता है वह 'संकीर्ण' प्रहसन है। विश्वनाथ कविराज[1] 'संकीर्ण' में ही 'विकृत' का अन्तर्भाव मानते हैं।

सिंग भूपाल ने प्रहसन के दस अङ्ग[2] स्पष्ट किये हैं। यह दस अङ्ग वीथ्यङ्ग ही हैं। दशरूपककार धनञ्जय के अनुसार 'संकीर्ण' प्रहसन वीथ्याङ्ग[3] युक्त होता है। परन्तु वीथ्याङ्ग तो प्रहसन के अङ्ग होते हैं न कि मात्र 'संकीर्ण' प्रहसन के। अतः प्रहसन के क्षेत्र में वीथ्याङ्ग व्यापक है। यह आवश्यक नहीं कि वीथी के समस्त तेरह अङ्ग प्रहसन में विद्यमान ही हों।[4] अस्तु प्रहसन के अङ्ग वीथ्याङ्ग पर आधारित नहीं है अपितु विथ्याङ्ग ही प्रहसन के भी अङ्ग होते हैं।

—:o:—

१. साहित्य दर्पणः —६/२६५-२६८
२. नाटक परिभाषा—२७६-२८५; सिंगभूपाल
३. दशरूपकम्—३/५४-५६
४. साहित्यदर्पण-परिच्छेद-६

भानुदत्त कृत रसमञ्जरी में नायक नायिका भेद

कु० रश्मि वर्मा (शोध छात्रा)
मु० ला० ज० ना० खे० गर्ल्स कालेज, सहारनपुर

सांसारिक प्रेमादि के कारण सांसारिक स्त्री-पुरुष ही काव्य-नाट्य क्षेत्र में विभावादि रूप नायिका तथा नायक हैं। अतएव किसी भी आचार्य द्वारा प्रदत्त नायक-नायिका विवेचन उसके नारी-पुरुष सम्बन्धी अनुभव तथा बोध को उजागर करता है। भानुदत्त द्वारा किये गये अत्यन्त सुव्यवस्थित तथा मनोवैज्ञानिक नायक-नायिका विवेचन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने नारी-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की सूक्ष्मता को समझा था। इनका नायक-नायिका विवेचन उस समय के समाज एवं सामाजिक परम्पराओं का भी दर्पण है जिसमें हमें स्पष्ट रूप से तत्कालीन समाज में नारी पुरुष की स्थिति तथा महत्व का बोध होता है।

परम्परा की 'स्वीया' नायक की विवाहिता पत्नी, गृह कर्म-व्याप्तता, सदाचार, सरलता इत्यादि गुणों से युक्त तथा पातिव्रत्य धर्म परायणा मानी गयी है।[२] पतिव्रता होना नारी के संस्कार, परिवेश तथा परिस्थिति सिखा देते हैं। इसके विपरीत भानुदत्त की स्वीया नायिका अपने नायक के प्रति अनुरागमयी रहती है। उनके अनुसार 'जो नायिका अपने स्वामी में ही अनुरक्त हो अर्थात् अपने पति से ही प्रेम करे उसको स्वीया नायिका कहा गया है।[३]

केवल विवाहिता होने से स्वीया नहीं माना जा सकता जब तक पति के प्रति उसका अनुराग न हो अर्थात् विवाह के साथ अनुराग को भी वे अनिवार्य्य मानते हैं। अनुराग करना या न करना नारी का स्वतन्त्र विषय होता है, वह संस्कारों का दबाव मात्र नहीं है। नायिका के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को इतना महत्त्व देना लेखक की अपनी विशेषता है।

भानुदत्त द्वारा वर्णित स्वीया के भेद मुग्धा नायिका की विभिन्न अवस्थाओं में से एक अवस्था ऐसी होती है जिसमें नायिका में यौवन का आविर्भाव तो हो रहा होता है परन्तु वह उससे अनजान रहती है, भानुदत्त ने उसको 'अज्ञातयौवना'

१. द्रष्टव्य, मम्मट, काव्य प्रकाश, ४, २७-२८

२. ....स्वीया शीलार्जवादियुक्। धनञ्जय, दशरूपक, २·१५
विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता, स्वीया। विश्वनाथ
—साहित्यदर्पण, ३५७

३. तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया। —भानुदत्त, रसमञ्जरी, पृ. १०;

कहा है ।[1] क्रमशः उसे यौवन का ज्ञान होता है, तब वह 'ज्ञात यौवना' कही जाती है ।[2] वह मुग्धा ही जब रति में भय, लज्जा के कारण संकोच करती है तब 'नवोढा' कहलाती है ।[3] ये भय और लज्जा के भाव जब मन्द पड़ जाते हैं और पति के प्रति विश्वास का आधिक्य हो जाता है तब वह ही 'विश्रब्ध नवोढा' कहलाती है ।[4] इसी प्रकार मध्या में भी काम और लज्जा का समन्वय है, परन्तु उसमें भी पति के प्रति विश्वास का आधिक्य हो जाने के कारण उसे 'अति-विश्रब्धनवोढा' कहा गया है ।[5] इन अवस्थाओं के चित्रण से स्पष्ट होता है कि प्रकाण्ड मनोवैज्ञानिक भानुदत्त नारी मन के कितने सफल चितेरे थे । आयु के साथ उसमें आविर्भूत-तिरोभूत होने वाला सूक्ष्म से सूक्ष्म मानसिक परिवर्तन भी उनकी दृष्टि से बच नहीं पाता था । इससे यह भी प्रतीत होता है कि समाज में कन्याओं का विवाह अत्यल्पायु अर्थात् यौवन के आविर्भाव से पूर्व ही हो जाता था जब कि वह अपने यौवनजन्य शारीरिक विकारों से भी परिचित नहीं हो पाती थीं ।

भानुदत्त ने प्रगल्भा नायिका का 'पतिमात्रविषयककेलिकलापकोविदा प्रगल्भा'[6] यह लक्षण देकर स्वीया नायिका की चारित्रिक गरिमा को ही महत्त्व प्रदान किया है । परकीया और सामान्या भी केलिक्रीड़ा में प्रवीण होती हैं, परन्तु उनका यह प्रावीण्य केवल पतिविषयक नहीं होता है ।

भानुदत्त ने स्वीया मध्या और प्रगल्भा के उपभेद ज्येष्ठा और कनिष्ठा के लक्षण 'परिणीतत्वे सति भर्तुरधिकस्नेहा ज्येष्ठा । परिणीतत्वे सति भर्तुः न्यूनस्नेहा कनिष्ठा ।'[7] में एक ओर 'परिणीत्वे सति' पद का प्रयोग कर उसे परकीया तथा सामान्या से बिल्कुल स्वतन्त्र बता दिया । दूसरी ओर उनकी परिणीता ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिका, नायक के उनके प्रति अधिक स्नेह तथा अल्प स्नेह के कारण अलग-अलग होती हैं । अधिकतर प्राचीन आचार्यों ने पूर्व परिणय तथा पश्चात् परिणय के आधार पर ये भेद किये थे ।[8] ऐसा प्रतीत होता है कि भानुदत्त इस तथ्य

१. द्रष्टव्य, वही, पृ. २५
२. वही
३. सैव क्रमशो लज्जा भय पराधीनरतिर्नवोढा ।—वही, पृ. २५
४. सैव क्रमशः सप्रश्रया विश्रब्धनवोढा ।—वही, पृ. २५
५. एषैव चातिप्रश्रयादतिविश्रब्धनवोढा ।—वही, पृ. ४२
६. वही, पृ. ४५
७. वही, पृ. ७८
८. द्रष्टव्य, हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० ३६४
,, भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ५, १११

से परिचित थे कि प्रेम की प्रगाढ़ता अथवा अल्पता समय की दीर्घता या अल्पता पर निर्भर नहीं करती। पूर्व परिणीत नायिका भी अल्प स्नेह की पात्रा होकर कनिष्ठा तथा बाद की विवाहिता अधिक स्नेह की पात्रा नवीना नायिका ज्येष्ठा हो सकती है। वस्तुतः यह एक व्यावहारिक सत्य है कि मानवीय सम्पर्क की प्रगाढ़ता मानसिक भावों पर निर्भर करती है। समय की दूरी पर नहीं।

परकीया नायिका को भानुदत्त ने परिभाषित करते हुए 'अप्रकटपरपुरुषानुरागपरकीया'[१] कहा है। यहाँ 'अप्रकट' शब्द देने से भानुदत्त का सम्भवतः मन्तव्य यह है कि परकीया परोढा तथा कन्यका में से जो विवाहिता नायिका होती है, उसका पर पुरुष प्रेम अपने परिवार तथा समाज में निन्दित एवं गर्हित हो सकता है। अतएव वह उस प्रेम को अन्यों से छुपाने का सतत् प्रयास करती है। इसी प्रकार परकीया कन्यका भी पराधीनता, लज्जा, संकोच एवं नायक की स्वीया नायिका का भय तथा अन्ततोगत्वा सामाजिक मान्यताओं के कारण अपने प्रेम को प्रकट नहीं कर पाती है। परकीया नायिका के सम्बन्ध में भानुदत्त की यह मौलिक उद्भावना है जो सामाजिक मर्यादा पर आधारित है।

मान के आधार पर स्वीया के धीरादि भेद मानने की परम्परा रही है,[२] परकीया के नहीं। भानुदत्त ने स्वीया नायिका के इन भेदों को विवेचित करते हुये पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा परकीया के इन भेदों को न मानने का उल्लेख तो किया है परन्तु अपनी मौलिक धारणा भी स्पष्ट की है 'यदि परकीया में मान हो तो वह भी धीरादि हो सकती है क्योंकि धीरा या अधीरा होना मान पर निर्भर करता है और उचित परिस्थिति होने पर परकीया नायिका भी मान से युक्त अवश्यमेव होती है।'[३] इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि नारी के मनोविज्ञान के आधार पर उन्होंने नायिका भेद करने का प्रयास किया है। 'मान' पूर्णतः मानसिक विषय है। बाह्य-विधि, निषेध या सामाजिक मर्यादा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। नारी स्वभाव से ही अत्यन्त भावुक तथा सवेदनशील प्राणी है। जिसके साथ उसका भावनात्मक सम्बन्ध होता है, उससे थोड़ा बहुत ठेस लगने पर ही नारी का मानवती हो उठना स्वाभाविक होता है। अतः पत्नी की मर्यादा एवं अधिकार से वंचिता परकीया नारी मान के अधिकार से भी वंचित रहे, यह बात भानुदत्त को उचित एवं व्यावहारिक प्रतीत नहीं हुई होगी। यह लेखक का नारी के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण को ही स्पष्ट करता है।

---

१. रसमञ्जरी, पृ. ८८

२. दृष्टव्य रुद्रभट्ट शृङ्गारतिलक, १,६५,७६
   दृष्टव्य धनञ्जय, दशरूपक, २,१७,१६
   दृष्टव्य हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० ३६३
   दृष्टव्य विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, ३,६१

३. दृष्टव्य, रसमञ्जरी, पृ० ५४-५५

'सामान्या' नायिका का लक्षण देते हुए भानुदत्त ने "धनमात्र की अभिलाषा से सभी पुरुषों की कामना करने वाली नायिका" को सामान्या कहा है।[1] वस्तुतः भानुदत्त ने परिभाषा में यह स्पष्ट नहीं किया है कि सामान्या व्यवसाय से वेश्या होती है अथवा नहीं। परन्तु उनके वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि नारी की धनलोलुपता ही उसे सामान्या बनाती है। यही कारण है कि अग्निमित्र की नायिका इरावती को उन्होंने 'सामान्या' कहा है।[2]

कालिदास के अग्नि मित्र की नायिका इरावती वैश्या नहीं है। यदि यहाँ उसी का उल्लेख है (जो कि रसमंजरी में कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है) तो विषय विचारणीय है। रसमञ्जरी के टीकाकारों ने उसे गणिका इरावती लिया है।[3] भानुदत्त ने इरावती का प्रेम स्वार्थ प्रेरित अर्थात् अंगराग, केसर, आभूषण आदि के लोभ से उद्भावित ही स्वीकारा है। उनके मत में यदि उसका प्रेम निस्स्वार्थ होता तो वह राजर्षि के स्थान पर किसी ब्रह्मर्षि से भी प्रेम कर सकती थी।[4]

भानुदत्त ने सामान्या की जो परिभाषा दी है वह अपने आप में न तो स्पष्ट है और न ही पूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि यदि "धनमात्र के कारण एक नहीं वरन् अनेक पुरुषों की अभिलाषा करने वाली नायिका सामान्या हो[5] तो वहाँ रस की स्थिति अनिश्चित हो जाएगी। भानुदत्त ने स्वयं ही रसतरंगिणी में विषयी और वैश्या की प्रति में रसाभास बताया है—

"अतएव वैषयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम्।

रसतरंमगिणी, पृ० १२७

इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि भानुदत्त व्यक्तिगत जीवन में नैतिकतावादी आचार्य रहे होंगे। उन्हें नारी का वैश्यारूप कभी सह्य नहीं रहा। अतः धनोपजीविनी के जीवन में प्रेम, निष्ठा या एकान्तानुगामिनी का भाव उनकी कल्पना से परे था। अपनी नैतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण वैश्या-नारी का प्रेमपूर्ण मनोभाव उनकी दृष्टि से अगोचर तथा उपेक्षा का विषय ही बना रहा। वस्तुतः भानुदत्त 'सामान्या' नायिका का उचित लक्षण प्रस्तुत नहीं कर सके और उन्होंने नारी के स्वाभाविक मनःस्थिति के प्रति अन्याय किया है। शूद्रक रचित मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना वैश्या है परन्तु अपने प्रिय चारुदत्त के प्रति एकनिष्ठ प्रेम की ज्वलन्त उदाहरण है।

---

१. वित्तमात्रोपाधिसकलपुरुषाभिलाषा सामान्यवनिता।-वही, पृ० ११३
२. दृष्टव्य, वही
३. दृष्टव्य 'सुरभि' 'सुषमा' टीका, पृ० ११५
४. ननु अग्निमित्रे क्षितिपतावनुरक्तायामैरावत्यामव्याप्तिः। तत्र वित्तमात्रोपाधेरभावाद् इति चेत्। मैवम्। सापि काश्मीरहीरादिदातरि महाराजेऽनुरक्ता। न तु महर्षौ।- रसमञ्जरी, पृ० ११३
५. दृष्टव्य वही, पृ० ११३

अपने प्रिय के शरीर पर दूसरी नारी के साथ किये गये सम्भोग चिन्हों को देखकर नायिका पर क्या प्रतिक्रिया होती है, इस ओर तो प्रायः सभी आचार्यों का ध्यान गया है[1] परन्तु किसी दूसरी स्त्री के शरीर पर हुये अपने प्रियतम के सम्भोग चिन्हों को देखकर नारी को जो वेदना, हताशा या आक्रोश होता है, उस ओर भानुदत्त का ही पहली बार ध्यान आकर्षित हुआ है। इसलिये उन्होंने 'अन्यसम्भोग-दुःखिता' को नायिका का एक उपभेद माना है। उनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण में प्रतिनायिका के प्रति नायिका के शब्दों की व्यञ्जना से उसके मन का तीखापन और कटुता ही व्यक्त होती है।

'त्वं दूति निरगाः कुञ्जं न पापीयसो गृहम्।
किं शुकाभरणं देहे दृश्यते कथमन्यथा ॥

रसमञ्जरी, श्लोक ३३

स्त्रियों का सामान्यतया यह स्वभाव होता है कि वे अपने जीवन में आये प्रेम तथा अपने शारीरिक सौन्दर्य के प्रति अत्यन्त सचेत होती हैं एवं मन में इसका गर्व भी करती हैं। युवती चाहे गम्भीर प्रकृति की हो अथवा चंचल, यह उसके व्यक्तित्व की एक दुर्बलता होती है और किसी न किसी बहाने अपने प्रेम की सूचना अन्य को देने तथा सौन्दर्य का संकेत करने में कभी पीछे नहीं रहती। भानुदत्त स्त्रियों की इस कमजोरी या विशेषता से सुपरिचित थे। इसलिये उन्होंने वक्रोक्ति-गर्विता नायिका को प्रेमगर्वित एवं सौन्दर्यगर्विता माना है।[2] पूववर्ती आचार्यों ने नारी के स्वभाव के इस पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया है।

स्त्रियों में ईर्ष्या की भावना अवश्य होती है। जब नायक अन्य नारी के साथ सम्भोग जन्य अपराध कर बैठता है तो इसी आधार पर मान करने वाली को मानवती नायिका माना गया है।[3] मानवती नायिका का मान भंजन करने के लिये नायक द्वारा विविध उपाय किए जाने पर सामान्यतया नायिका मान छोड़ देती है। मान तथा मान भंजन के उपाय वर्णन में तो शृंङ्गार रस का परिपाक सम्भव है। परन्तु यदि अवस्था विशेष पर पहुंचकर भी नायिका मान नहीं त्यागती तो वहाँ शृंगार रस न रहकर शृंगाराभास हो जाता है।

---

१. धनञ्जय, दशरूपक, २,२५
हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० ३६७
विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३,७५

२. वक्रोक्ति गर्विता द्विविधा। प्रेमगर्विता सौन्दर्य गर्विता च।
रसमञ्जरी, पृ० १२४

३. दृष्टव्य, वही, पृ० १२६

"असाध्यस्तु रसाभासः ।"[1]

भानुदत्त का यह विवेचन अत्यन्त वैज्ञानिक है क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है कि मान भंजक उपायों का बारम्बार वर्णन होने पर सहृदयों के मन में खीझ पैदा होना स्वाभाविक है जिससे रसास्वादन में विघ्न उत्पन्न हो जाता है तथा रसाभास की स्थिति बन जाती है । दूसरी ओर नारी सृष्टि विविध प्रकार की होती है । कुछ अत्यन्त संवेदशील अथवा अपनी बात की धनी, दृढ़ प्रकृति नारी का किसी भी शर्त पर न मानना, गुस्से को न त्यागना भी सम्भव होता है । उसी प्रकृति की नारी को ध्यान में रखकर यह विभाजन किया गया प्रतीत होता है ।

भानुदत्त ने नायिका के अवस्थानुसार खण्डितादि जो आठ विभाजन किये हैं[2] एवं उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा भेद किये हैं[3] उसमें कोई विशेष उल्लेखनीय तथ्य दृष्टिगोचर नहीं होता ।

भानुदत्त के नायिका विवेचन से स्पष्ट होता है कि वे परम्परा का परित्याग न कर पाए तथा उसी का अनेकांश में अनुसरण किया है । क्योंकि परकीया नायिका में मान के आधार पर धीरा इत्यादि भेद उन्हें मान्य हैं परन्तु प्राचीन आचार्यों ने ये भेद नहीं किये हैं, इसलिये वे भी इन भेदों का उल्लेख मात्र कर देते हैं ।[4] नायिका भेदों की परिगणना में इन्हें सम्मिलित नहीं करते हैं । वे मुग्धा में धीरा इत्यादि भेदों के समान ही अवस्थानुसार खण्डितादि भेद उचित नहीं मानते हैं क्योंकि मुग्धा नायिका में अनुभव शून्यता तथा अल्पायु के कारण विचार बुद्धि का अभाव हुआ करता है ।[5] जो स्वयं ही अपने यौवनजन्य परिवर्तनों को नहीं समझ सकती, ऐसी नासमझ होने के कारण प्रिय की अन्य नारी के साथ हुई सम्भोग जन्य विकृतियों को समझने में वह समर्थ ही नही होती तो ईर्ष्या से कलुषित होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । अतः वह खण्डिता इत्यादि कैसे हो सकती है । परन्तु प्राचीन आचार्यों ने ये भेद किये हैं इसलिये वे भी मुग्धा की एक अवस्था 'नवोढा' का आश्रय लेकर ये भेद बताते हैं ।

१. रस मञ्जरी पृ० १२६
२. वही, पृ० १३४
३. वही, पृ० १३४
४. दृष्टव्य, रसमञ्जरी, पृ० ५४
५. यद्यपि मुग्धाया यथा धीरादिभेदाभावस्तथाविधप्राज्ञासामग्र्यभावात् तथात्राप्यष्ट विधत्वाभावो भवितुमर्हति तथापि प्राचीनलेखानुरोधेन नवोढामालम्ब्यैते भेदा अवगन्तव्याः ।—वही, पृ० १३४
६. दृष्टव्य, वही पृ० १३४

नायिका के जाति के आधार पर दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्या भेद भानुदत्त को स्वीकार्य नहीं हैं क्योंकि एक तो इस प्रकार के भेद विवेचन से नायिकाओं की संख्या अनेक होकर उसमें आनन्त्य दोष आ जायेगा, साथ ही उसी के समान नायक के भी ये भेद मानने पड़ेंगे।

नायक भेद—

नायक विवेचन भानुदत्त का मौलिक है। नायिका के स्वीया, परकीया तथा सामान्या भेदों के सदृश ही उन्होंने नायक के पति, उपपति एवं वैशिक भेद किये हैं।[1] भानुदत्त ने इस प्रकार नायक भेद विवेचन कर स्त्री और पुरुष को समानता की कसौटी पर लाकर खड़ा कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भानुदत्त ने इस भेद विवेचन में सामाजिकता तथा व्यावहारिकता को आधार माना। समाज में प्रमुख स्थान विवाहित पुरुष का होता है फिर कतिपय अनैतिक सम्बन्ध रखने वालों का तथा उसके पश्चात् वैश्यागामी पुरुषों का, यही मुख्य रूप से इस भेद विवेचन का आधार है।

"विधिवत् पाणिग्राहक: पति:[2] कहकर भानुदत्त ने जहाँ विवाह की सामाजिक मर्यादा को स्पष्ट किया है वहीं विवाह के विधि-विधान संबलित होने की ओर भी प्रकाश डाला है। सम्भवत: गान्धर्व विवाह के पति से प्राजापत्य विवाह के पति की भिन्नता स्पष्ट करने के लिये ही 'विधिवत्' पद का प्रयोग किया गया है। गान्धर्व विवाह में तो नारी-पुरुष का मानसिक समर्थन ही पर्याप्त होता है, धार्मिक विधान नहीं। सम्भवत: पति नायक की इस परिभाषा के पीछे भानुदत्त का नैतिक मन ही दायी रहा हो जो समाज में उन्मुक्त प्रेम का समर्थक न था। परन्तु भानुदत्त पुरुष के बहुविवाह के विरोधी नहीं थे बशर्ते कि वे सभी विवाह नियमपूर्वक हों। उनका पति नायक का शठादि भेद इसी बात को स्पष्ट करता है।

भानुदत्त ने पति नायक के अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्ठ भेद किये हैं।[3] मानी तथा चतुर नायक का शठ में ही अन्तर्भाव किया है।[4]

'सार्वकालिक परांगना पराङ्मुखत्वे सति सर्वकालमनुरक्त:'[5] कहकर भानुदत्त ने जो अनुकूल नायक को परिभाषित किया है उसमें परस्त्री से विमुखता जहाँ नीतिवादी दृष्टिकोण का परिणाम है वहीं सर्वदा प्रेममय रहना स्वाभाविक विषय है।

---

१. स च त्रिविध:। पति:। उपपति:। वैशिकश्चेति। —वही, पृ. २३६

२. वही, पृ. २३६

३. अनुकूलदक्षिणधृष्टशठभेदात् पति: चतुर्धा। —वही, पृ. २४०

४. मानी चतुरश्च शठे एवान्तर्भवति। —वही, पृ. २५०

५. वही, पृ. २४०

दक्षिण नायक की परिभाषा 'सकलनायिकाविषयकसमसहजानुरागो दक्षिण:'[1] में नायक के स्वार्थ-परक व्यक्तित्व को भिन्न रूप से प्रस्तुत किया है। नायक की अनेक पत्नियाँ होती हैं अत: स्वाभाविक ही है कि उसमें किसी नायिका के प्रति अधिक प्रीति हो परन्तु उसकी एक में अधिक प्रीति होने पर सभी नायिकाओं के प्रति बाह्य व्यवहार स्वाभाविक एवं सहृदयतापूर्ण होता है वह किसी के प्रति अधिक प्रीति दिखाकर अन्य के मन को ठेस पहुंचाना नहीं चाहता है। अत: यहाँ पर लेखक ने पुरुष के कूटनैतिक स्वभाव को प्रदर्शित किया है।

'भूयोनि: शङ्कृतदोषोऽपि भूयो निवारितोऽपि भूयो प्रश्रयपरायणो धृष्ट:'[2] के अनुसार धृष्ट नायक में स्वाभिमानिता का अभाव होता है तथा अपने ढीठ स्वभाव के कारण नायिका के फटकारने पर भी वह उसके आगे पीछे घूमने से बाज नहीं आता है। पति और पत्नी के बीच के इस अद्भुत सम्पर्क को भानुदत्त ने खूब समझा।

'कामिनीविषयककपट पटु: शठ:'[3] के माध्यम से भानुदत्त ने कूटनीतिज्ञ से पुरुष के और भी अत: स्तरीय रूप स्वार्थपूर्ति के लिये कपटता का आश्रय लेने वाला बताया है।

भानुदत्त पुरुष के मानी स्वभाव से भी अपरिचित नहीं थे। अतएव धृष्ट से पूर्ण विपरीत मानी में पुरुष के उस अड़ियल स्वभाव का परिचय है जिसमें नायिका के जरा सा भी मना करने पर नायक उससे विमुख हो जाता है।[4]

कुछ पुरुषों का स्वभाव होता है कि वे स्त्रियों के समक्ष अपने समागम के अभिप्राय को स्पष्ट रूप में नहीं कहते हैं अपितु अपनी चेष्टा एवं बातों के माध्यम से उस अभिप्राय को प्रकट करते हैं। इस प्रकार के पुरुषों को भानुदत्त 'चतुर' नायक की श्रेणी में रखते हैं।[5]

इस प्रकार पति के इन विविध भेदों में पुरुष प्रकृति के विविध स्तरों तथा रूपों का प्रतिफलन मिलता है।

उपपति नायक भानुदत्त की मौलिक उद्भावना है। उनके अनुसार 'आचार-हानिहेतु: पति: उपपति:'[6] है अर्थात् नारी के शास्त्रविहित पत्नी धर्म को भंग करने वाला नायक ही उपपति है। नीतिवादी तथा भारतीय धर्म प्रधान सस्कृति के उद्घोषक

१. रसमञ्जरी पृ. २४१
२. वही, पृ. २४२
३. वही, पृ. २४३
४. द्रष्टव्य, वही, पृ. २५०
५. वाक्चेष्टाव्यङ्ग्यसमागम: चतुर:। —वही, पृ. २५०
६. वही, पृ. २४४

भानुदत्त के अनुसार पति-पत्नी के मध्य काम धर्मानुमोदित है अतः पर-पत्नी के साथ जब पुरुष रति-क्रिया में लीन होता है तो वह उस नारी को कुमार्ग में ले जाने का दायी होता है, उसका धार्मिक अनुष्ठान बिगाड़ने वाला होता है, इससे उस समय के सामाजिक नियमों एवं परम्परा की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। पुरुष को स्त्री के आचार को बनाने और बिगाड़ने का प्रमुख हेतु समझा गया।

पति के समान उपपति भी अनुकूलादि चार प्रकार के माने गये हैं जिनमें शठ तो अवश्य होता है अन्य का होना निश्चित नहीं होता।[1] इस कथन में भी आचार-संहिता के पालक भानुदत्त को उपपति में कपटपूर्ण आचरण ही मुख्य लगा जो पर-स्त्री को कुमार्ग पर लाये, उनकी दृष्टि में उससे बड़ा कपटी और कौन होगा।

वैशिक की परिभाषा में 'बहुलवेश्योपभोगरसिकोवैशिकः'[2] कहा है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय वैश्यागमन सामान्य बात थी। समाज की समृद्धि तथा जीवन का समस्या रहित होना भी द्योतित होता है।

भानुदत्त ने पति तथा उपपति के उत्तमादि भेद नहीं किये हैं; केवल वैशिक में इन्हें स्वीकृति दी है। तदनुसार नायिका के क्रोध करने पर क्रोध न करने वाला उत्तम, क्रोध करने पर अनुराग को प्रकट न करने वाला मध्यम तथा बिना किसी विचार के कामक्रीडा में लगने वाले को अधम कहा गया है।[3]

अन्य किसी भी आचार्य ने नायिका के समान नायक के अवस्थानुसार खण्डितादि भेद नहीं माने हैं। वे इस विषय में पूर्ण मौन हैं। भानुदत्त ने इन भेदों को मानने में अपनी असहमति व्यक्त की तथा उसका कारण यह दिया कि इससे रसाभास की सृष्टि होगी।[4] वस्तुतः उनकी इस मान्यता के पीछे भी उनका नैतिकतावादी अन्तःकरण ही स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रहा है। नायक को खण्डितादि तभी स्वीकार किया जा सकता है जब उसकी नायिका को परपुरुष से सम्बद्ध चित्रित किया जाए। नायक के बहुपत्नीत्व, परकीया-उपभोग तथा वैश्यागमन को अनुमति प्रदान करने पर भी भानुदत्त नारी अथवा नायिका का ऐसा अधःपतन कभी सहन नहीं कर सकते हैं। परम्परा से संचालित उन्होंने परकीया नायिका को स्वीकृति तो दी है, परन्तु इससे अधिक की आशा दुराशा मात्र है।

परम्परा ने वियोग की अवस्था में नायिका के भेद किए हैं।[5] परन्तु भानुदत्त

---

१. उपपतिरपि चतुर्धा। परं तु शठत्वं तत्र नियतम्। अनियताः परे।
—वही, पृ० २४५

२. वही, पृ० २४५

३. दृष्टव्य, वही, पृ० २४७, २४६

४. " वही, पृ० २५५

५. रुद्रभट्ट, शृङ्गारतिलक, १,१४७
दशरूपक २,२७
साहित्यदर्पण, ३,८४

ने विरह को एकांगी न मान नायक के भी उस अवस्था विशेष में प्रोषितपति प्रोषितोपपति एवं प्रोषितवैशिक तीन भेद माने हैं।[१]

भानुदत्त ने अज्ञात यौवना नायिका को हेय दृष्टि से नहीं देखा है, उसे मुग्धा नायिकाओं के अन्तर्गत महत्त्व दिया है इसके विपरीत पुरुष का नायिका के हाव-भाव चेष्टा का ज्ञाता होना अपेक्षित होता था। नागरिक वृत्ति में जहाँ समस्त कलाओं में पारंगत होना आवश्यक था, वहीं काम कला की विचक्षणता भी आवश्यक थी फिर भी यदि कोई पुरुष नायिका की चेष्टायों से अपरिचित रहता था तो उसे भानुदत्त नायक का पद देने को भी प्रस्तुत नहीं। वह तो मात्र नायकाभास होता था—अनभिज्ञो नायकः नायकाभास एव।[२]

भानुदत्त के इस नायक-नायिका विवेचन से जहाँ उनकी मौलिक उद्भावना, नारी-पुरुषों के सम्पर्क की, सूक्ष्म तथ्यों को समझने की सूझ, तत्कालीन सामाजिक वैशिष्ट्य आदि महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर होते हैं, वहीं कुछ प्रश्न भी उठते हैं। स्वकीया नायिका तथा पति नायक अपने भेदोपभेद सहित स्पष्ट है। परकीया एवं उपपति के सम्बन्ध में एक सन्देह मन में जागता है। परकीया परोढा तथा उपपति का विवेचन तो ठीक है। परन्तु परकीया कन्यका का नायक भी क्या उपपति ही कहलायेगा ? वस्तुतः लेखक ने परकीया कन्यका का नामोल्लेख मात्र किया है, न तो उसको परिभाषित किया न ही भेद बताए। नैतिकता की दृष्टि से कन्या का विवाहित पुरुष से प्रेम करना अनुकरणीय नहीं है परन्तु संस्कृत साहित्य के नाटक तथा नाटिकाएँ अधिकांशतः परकीया कन्यका नायिकाओं से भरी हैं। ऐसी महत्त्वपूर्ण नायिका के सम्बन्ध में भानुदत्त का प्रायः मौन रहना अखरता है। भानुदत्त का उपपति के प्रति जिस प्रकार का असम्माननीय तथा उपेक्षापूर्ण रवैया है, उस दृष्टि से दुष्यन्त, अग्निमित्र, उदयन आदि नायक उपपति के सांचे में ठीक नहीं बैठते हैं। नायक-नायिका तो मुख्यतः काव्य-नाटक में परिपुष्ट शृङ्गार रस के आलम्बन अथवा आश्रय होते हैं। भानुदत्त ने मानवती नायिका के प्रसङ्ग में तो रसाभास का उल्लेख किया है किन्तु उपपति का जो स्वरूप विवेचित किया है, उससे भी शृङ्गार रस नहीं रसाभास की ही आशंका होती है।

वैशिक नायक भी संस्कृत नाटकों तथा काव्यों में अनुपलब्ध ही है। भानुदत्त का यह विवेचन मानवीय समाज की दृष्टि से तो उपयुक्त हो सकता है परन्तु काव्य तथा नाट्य के क्षेत्र में इनकी उपयोगिता सन्देहास्पद ही बनी रहती है। भानुदत्त द्वारा प्रतिपादित सामान्य तथा वैशिक नायक साहित्य की किस विधा में नायक-नायिका का पद ग्रहण करेंगे यह स्पष्ट नहीं। अन्य आचार्यों यथा रुद्रभट्ट ने वैश्या को अनुरागवती माना है।[३] अतः वह संकीर्ण प्रकरण की नायिका हो सकती है। परन्तु भानुदत्त की सामान्या के लिए तो यह असम्भव ही है।

१. प्रोषितः पतिरुपपतिर्वैशिकश्च भवति। —रसमञ्जरी, पृ० २५
२. वही पृ० २५३
३. दृष्टव्य रुद्रभट्ट शृङ्गारतिलक, १, १२०–१२६

भानुदत्त ने इरावती की सामान्या नायिका स्वीकार किया है ।[1] इसका अभिप्राय यह है कि वे प्रकरण के समान नाटक में भी कुलजा एवं सामान्या दोनों को ही नायिका मानते हैं ।

भानुदत्त के वैशिक नायक तथा सामान्या नायिका के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी कल्पना में कोई ऐसी साहित्यिक विधा रही होगी जिसमें ये दोनों नायक-नायिका हों । उनकी परिभाषानुसार वसन्तसेना से सम्बद्ध चारुदत्त न तो पति है, न उपपति, और न ही वैशिक ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भानुदत्त के नायक नायिका विवेचन उनकी मौलिकता, नैतिकता बोध, नारी-पुरुष के चारित्रिक विश्लेषण की सूझ-बूझ से तो युक्त हैं और मानवीय स्वभाव एवं सामाजिक दृष्टि से भी उचित प्रतीत होते हैं । परन्तु काव्य तथा रूपक की कसौटी पर पूरे खरे नहीं उतरते हैं ।

———

१. द्र० रसमञ्जरी पृ०, ११३

संस्कृत और हलबी की शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० भावना श्रीवास्तव
शा. म. ल. बा. कन्या महाविद्यालय,
भोपाल (म० प्र०)

जनजातियों एवं उनकी भाषाओं के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध अभी तक अध्ययन की परिधि में नहीं आये। यद्यपि यह सही है कि जनजातियों की सस्कृति, बिना उनकी भाषा के अध्ययन के समझी नहीं जा सकती। जनजातीय भाषाओं की शब्द सम्पदा ऐसे प्रतीकों और सूचनाओं को संग्रहीत करती है, जिनके माध्यम से उनकी संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना को समझा जा सकता है।

भारतीय परिवेश में जब हम जनजातियों की शब्द सम्पदा का विवेचन व्युत्पत्तिमूलक ढंग से करते हैं, तो आर्य वर्ग की जनजाति बोलियों में अनायास संस्कृत से सम्बद्धता जुड़ जाती है, इससे इस प्रकल्पना को बल मिलता है कि कहीं यह जनजाति हमारे वैदिक पूर्वज तो नहीं है, इसी कल्पना पर आधारित प्रस्तुत आलेख।

हलबी मध्य प्रदेश में बस्तर के आदिवासियों की एक सम्पर्क भाषा है और विज्ञान की शब्दावली में इसे **'क्रयोल'** कह सकते हैं। **'क्रयोल'** इसलिये कि यह मराठी, गौंडी, उड़िया और छत्तीसगढ़ी के मिश्रण से बनने वाली एक ऐसी भाषा है जिसका प्रयोग बस्तर के जनजाति वर्गों के सभी लोग सम्पर्क व्यवस्था में करते हैं।

संस्कृत और हलबी के शब्दों का अध्ययन करें तो यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि हलबा जनजाति कुछ अपनी परम्पराओं, वातावरण एवं संस्कृतियों से शब्दों में अपने जातीय अर्थ को प्रतिपादित करते हैं यहाँ कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं।

संस्कृत में 'अँगुष्ठ' का अर्थ मूलतः अंगूठे से है, किन्तु इससे व्युत्पन्न हलबी का **'अँडखी'** पाँचों अँगुलियों का वाचक बन गया है। ध्यान देने योग्य है कि हलबी में अँगुष्ठ से निष्पन्न दो शब्द हैं—एक तो अँगूठा दूसरा अँगुली। रोचक बात यह है कि अँगूठा पुलिंग है तथा अँडखी स्त्रीलिंग। संभवतः अँडखा रूप अँगूठे के लिये प्रयुक्त हुआ होगा और बाद में स्त्रीलिंग अँगुलियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा। अँगूठे को पुरुष मानने के पीछे आदिवासियों की एक मानसिकता यह भी हो सकती है कि शरीर में पाँचों अँगुलियों में से अँगूठा सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न है और उसके बिना एकलव्य होने की स्थिति आ जाती है। संभवतः एकलव्य का पौराणिक प्रसंग उनके वंशजों में परम्परा से रहा है और शायद इसीलिये उनकी यह निम्नगत दृष्टि

आज भी बनी हुई है । अँगुली पर हलबी में एक ही मुहावरा उपलब्ध होता है वह है अंडखी फुटातोर' अर्थात् शाप देना । आदिवासी स्त्रियों में हमारी ग्रामीण स्त्रियों के समान आज भी यह परम्परा है कि पारस्परिक कलह की स्थिति में वह अँगुलियाँ फोड़कर एक दूसरे को कोसती है और इनके मन में विरोधी को शाप देने का भाव होता है । यह अँगुली फोड़ने की विधि इस प्रकार पुनः व्यापक भारतीय मन का ही आदिवासीकरण है । संस्कृत में 'अश्रु' नेत्र जल का वाचक है, जबकि उसी से बना हुआ अपभ्रंश रूप हलबी में 'आँसू' शब्द जल अर्थ के साथ-साथ मुकुट की लड़ियों के अर्थ को प्रतिपादित करता है ।

हलबी में 'कलेजा' शब्द मिलता है जो संस्कृत के कालेयक' और प्राकृत के 'कलेज्जअ' का बिगड़ा हुआ रूप है तथा जो यकृत तथा दिल इन दोनों अर्थों में ही प्रयुक्त होता है । इसीलिये इन जनभाषा में कलेजा ही दिल का वाचक बन गया है । इसका एक आनुषंगिक परिणाम यह हुआ कि प्रेम के लिये आदिवासी के पास कोई शब्दावली नहीं मिलती, क्योंकि जब दिल ही नहीं है तो उसको अभिव्यक्त करने के लिये प्रेम या प्रणय शब्द कहाँ से होगा । जाहिर है कि आदिवासी आज भी आदिम अवस्था की जिन्दगी जीते हैं और उनके पास आहार, निद्रा और भय के अतिरिक्त कोई चिन्तन दृष्टि ही नहीं है ।

इसी प्रकार 'अक्षि' का हलबी में अप्रभंश रूप 'अँइख' तथा 'आँइख' के सबंध में हलबा जनजातियों की दृष्टि इनके द्वारा प्रयुक्त आँखपरक विविध पहेलियों के माध्यम से होती है । हलबा जनजाति इस उहापोह में है कि दो भाई आसपास बैठे हैं लेकिन एक दूसरे को देख नहीं सकते । आँखें सबको देखती हैं, किन्तु अपने को या एक दूसरे को देख नहीं पाती । यह एक भोगा हुआ यथार्थ है जो इस हलबी पहेली में व्यक्त होता है—

'दुई भाई बमला अंईख देखा देखी नांई ।

हलबा जनजातियों के लिये आँख एक विशाल सरोवर के सामान है । यहाँ कितनी ही चीजें कैद हो सकती हैं किन्तु भावात्मक वस्तु ही आँखों में गोता लगा सकती है वस्तु नहीं । यह बात इस तालाब में मछली नहीं खुस सकती इस पहेली के माध्यम से व्यक्त की है—

'ए तरई में मछली नी ओलुख सके' ।

आँखें दो हैं इसलिये जनजाति मन उसे दो तालाबों के रूप में देखती है और पुनः यह तर्क प्रस्तुत करता है कि तालाबों में कोई वस्तु डालने से बाढ का पानी बाहर आ जाता है अर्थात् आँसू प्रवाहित होने लगते हैं इस आँखों की विशेषता को आदिवासी मन जिस सूक्ष्मता के साथ व्यक्त करता है, वह उसकी अपनी खुद की अनुभूति है । आँख से सम्बद्ध अनेक हलबी मुहावरे संस्कृत की जातीय अर्थ से जुड़े प्रतीत होते हैं, जैसे—

अंइख मारतोर् (कटाक्ष करना), आँइख एतोर् (आँख आना) ।

आँइख तरतोर् (प्रगति देखकर कुढ़ना) अँइख लीमतोर् (आँख बन्द होना) ।

संस्कृत के जातीय अर्थ में आँखों से सम्बद्ध मुहावरे किस व्यापकता के साथ व्यवहृत हुये हैं, यद्यपि प्रतिबद्ध संस्कृति होने के कारण बस्तर में वे सभी अर्थ मुहावरों

के रूप में तो नहीं उभरे, किन्तु इतना अवश्य है कि इनमें अर्थ की विविध छटायें संस्कृति में पूरी तरह मेल खाती हैं।

हलबी के शब्दों का यदि संस्कृत के तत्सम रूपों के आधार पर संकलन किया जाये तो लगभग बीस प्रतिशत शब्द इस भाषा में संस्कृत के तत्सम रूपों से सम्बद्ध है। उदाहरण के लिये—

अंकुश	—	ढोल लटकाने के निमित्त लकड़ी की खूटी।
अग्निबाण	—	दैविक कार्यों से सम्बद्ध।
अक्षदण्ड	—	बैलगाड़ी का लोह दण्ड।
पवन	—	हवा
पूजा	—	पूजा
देवर	—	पति का अनुज
तात	—	पिता के पिता आदि

इन शब्दों के विवेचन को लेकर भाषा वैज्ञानिकों में व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक भ्रम की स्थिति है, उदाहरण के लिये—

इमेन्यू ने द्रविडम इटेमीलेरियन डिक्शनरी (डीईडी) में 'दादा' शब्द की व्युत्पत्ति द्रविड मूलक मानी है जबकि टर्नर ने अपने आर्य भाषा के व्युत्पत्तिमूलक कोश में इसे सस्कृत मूलक 'तात' शब्द से व्युत्पन्न माना है।

यह एक प्रश्न चिन्ह है न केवल 'दादा' को लेकर अपितु हलबी की नातेदारी की समूची शब्दावली ऐसी है, जिसकी व्युत्पत्ति (डीईडी) में भी है, टर्नर के आर्य भाषा कोष में भी।

इस प्रश्न को मैं यहाँ इसलिये उठा रही हूं कि भाषाविद भारतीय भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण की प्रांसगिकता पर पुर्नविचार करें। मुझे ऐसा प्रतीत होता है विशेषकर हलबी शब्दावलियों के प्रसंग में कि भारतीय भाषाओं में एक तारतम्य है और उन्हें परिवारों में बाँध कर हम सांस्कृतिक दूरी को तो नहीं फैला रहे हैं। यह शब्दावली मूलक मेरा विचार कौटिल्य के अर्थशास्त्र के संदर्भों से भी प्रमाणित होता है जहाँ आटविक जनों की सीमान्त स्थिति और वीरत्व का विवेचन है अशोक के अभिलेखों में बस्तर की इन जातियों को अत्यन्त विशाल क्षेत्र में स्थित माना गया है अशोक ने भी यही प्रश्न किया था कि जैसा कि एक शिलालेख में मिलता है—'आदिवासी जनता पूछेगी कि सम्राट किस दृष्टि से हमें देखते हैं, उनसे कहना कि सम्राट उन्हें उसी प्रकार देखते हैं जैसे वह अपने स्वयं के बच्चों को देखते हैं।'

यह संदेश आज के भाषाविदों के लिये प्रासंगिक है, क्योंकि भारतीय सस्कृति की जड़ें अभी भी इन्हीं आदिम बोलियों में निहित हैं। ये आदिवासी सभ्यता यदि बारीकी के साथ उद्घाटित की जाये तो यह भेद भावना जड़ से समाप्त हो जायेगी कि जातियाँ कुछ और हैं और जनजातियाँ कुछ और। पर इसे गहराई से समझने के लिये पुनः मैं इस बात के लिये आग्रह करती हूं जनजातीय भाषाओं के माध्यम से साँस्कृतिक को तलाशा जाये फिर उन्हें भारतीय संस्कृतिक के परिप्रेक्ष्य में समायोजित किया जाये।

—:o:—

महाभारत के आदिपर्व में वर्णित "ययाति आख्यान" में निहित प्रमुख शिक्षायें

कु० सपना शर्मा
शोध छात्रा, आर० जी कालेज
मेरठ

महाभारत के विशाल कलेवर में आख्यानों का विशेष योगदान है और इन आख्यानों की संरचना का मूल उद्देश्य आख्यानों द्वारा मानव व्यक्तित्व के विकास के लिये विभिन्न नैतिक शिक्षायें प्रस्तुत करना ही है ।

"ययाति आख्यान" महाभारत के आदि पर्व का एक प्रमुख आख्यान है। प्रस्तुत आख्यान महान् राजा ययाति के जीवन प्रसंगों को उजागर करता है । ययाति ने जीवन की सफलता भोग विलास में समझी थी किन्तु अपने अनुभव से उन्होने इसकी निःसारता समझ कर मनुष्य को विषय भोगों की अतिशय लालसा से बचने का उपदेश दिया इन्हीं महान ज्ञानी राजा ययाति से सम्बन्धित "ययाति आख्यान" विभिन्न मूल्यावान् नैतिक शिक्षाओं से ओत-प्रोत हैं इन प्रेरक शिक्षाओं को आख्यान में इस प्रकार देखा जा सकता है—

(1) सद्-आचरण :—

सद्-आचरण से ही व्यक्ति प्रशंसित होता है । उसके आचरण से ही किसी सुदृढ़ व्यक्तित्व की कल्पना की जा सकती है । उदारता, मधुरता, जितेन्द्रियता व शीलता ही अन्तस् के वे गुण हैं जिन पर सदाचारण अवलम्बित है । अपने इन गुणों व श्रेष्ठ चरित्र के आधार पर ही अन्य जनों को संतुष्ट व प्रसन्न कर अभीष्ट की प्राप्ति सम्भव है । उदाहरणार्थ आख्यान में कच अपने शील स्वभाव तथा मधुर व्यवहारादि के द्वारा देवयानी को प्रसन्न कर उसके पिता शुक्राचार्य से मृत-संजीवनी विद्या प्राप्ति के अभीष्ट को सिद्ध कर लेते हैं ।[1] अतः आख्यानकार उनके इस आचरण को दर्शाकर वस्तुतः यह शिक्षाप्रद सन्देश देता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना व्यवहार व आचरण उच्च कोटि का रखना चाहिये तभी वह अन्य जनों को संतुष्ट कर उनसे ज्ञान प्राप्त कर लाभान्वित हो सकता है ।

(2) गुरु का आदर :—

"आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणां" पूज्य जनों में आचार्य श्रेष्ठ होता है । गुरु की

---

१. महा० १/७६/१६, ५०, ७०-७१
"शीलदाक्षिण्यसाधुर्यैराचारेण दमेन च । देवयान्यां हि तुष्टायां विद्यां तं प्राप्स्यासिध्रुवम् ।।"

२. गौ० ध० सू० १/२/५६

की श्रेष्ठता उसके विद्यादान के कारण ही है क्योंकि वह शिष्य को अविद्या के अन्धकार से मुक्त कर एक नया जन्म देने में सक्षम होता है। इस कारण गुरु शिष्य के लिये उसके पिता के ही समान पूजनीय है। इसी तथ्य को आख्यान में सुरगुरु पुत्र कच के कथनों में देखा जा सकता है, "गुरु से विद्या प्राप्ति के पश्चात् गुरु के प्रति धर्मयुक्त दृष्टि ही रखनी चाहिये।" जो सम्पूर्ण वेदों के ज्ञान देने वाले तथा समस्त विद्याओं के आश्रयभूत गुरु का उनसे विद्या प्राप्त करके भी आदर नहीं करते वे प्रतिष्ठा रहित होकर नरक में जाते हैं।[1] इस प्रकार आख्यानकार द्वारा इन पंक्तियों के माध्यम से अपने गुरु के प्रति सदैव भक्ति भाव व आदर रखने की शिक्षा दी गयी है।

(3) क्रोध का त्याग :—

क्रोध व्यक्ति का वह दुर्गुण है जो उसके समस्त गुणों को तिरोहित कर देता है। क्रोध के वशीभूत व्यक्ति को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भी ध्यान नहीं रहता। क्रोध के दुष्परिणामों को आख्यानकार द्वारा इस प्रकार दर्शाया गया है—"क्रोधी व्यक्ति के लोक-परलोक नष्ट हो जाते हैं। क्रोधी व्यक्ति को उसके पुत्र, सुहृद, मित्र, पत्नी, धर्म तथा सत्य भी त्याग देते हैं।[2] क्रोधी व्यक्ति के यज्ञ, दान, तपादि सभी निष्फल हो जाते हैं।[3] इसके अतिरिक्त क्रोध के दुष्परिणाम का एक प्रमुख उदाहरण है—शर्मिष्ठा क्रोधावेश में असुरगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी को अन्धकूप में धकेल कर चली जाती है जिसका परिणाम न केवल उसे प्रत्युत उसके समस्त बान्धवों को भी भोगना पड़ता है। शर्मिष्ठा को अपने इसी कृत्य के कारण एक राजपुत्री होते हुये भी देवयानी का आजीवन दासीत्व स्वीकार करना पड़ता है। अतः आख्यानकार क्रोध सदृश अवगुण को दूर करने की शिक्षा देता है—

"जो मनुष्य क्रोध को क्षमाभाव द्वारा अपने हृदय से निकाल देता है वस्तुतः वही श्रेष्ठ होता है[4] जो उभरे हुये क्रोध को अश्व के समान वश में कर लेता है वही सत्पुरुषों द्वारा सच्चा सारथि कहा गया है।[5] अतः आख्यान की शिक्षा है कि क्रोध का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(4) कटुवाणी का त्याग :—

कटु वचन सीधे मर्मस्थल पर प्रहार करते हैं अतः कटुवाणी का यथासम्भव त्याग करने का प्रयास करना चाहिये। इसी तथ्य को आख्यान की प्रस्तुत पंक्तियों द्वारा स्पष्ट किया गया है—"शस्त्र, विद्या तथा अग्नि से प्राप्त होने वाला दुख तो

१. महा० १/७६/६३, ६४
२. महा० १/७९/७ (प्रक्षि०)
३. महा० १/७९/७
४. महा० १/७९/३
५. महा० १/७९/२

शनैः शनैः अनुभव होता है परन्तु कटुवचन तो तत्काल ही मर्मस्थल पर प्रहार करते हैं।[1] बाण से विन्धा हुआ वृक्ष तथा परशु से काटा हुआ वन तो पुनः पनप जाता है परन्तु कटुवाणी द्वारा आहत हृदय का घाव फिर नहीं भरता।[2] इसके अतिरिक्त, कटुवादी व्यक्ति के मित्र, सम्बन्धी-जन भी उससे प्रेम नहीं करते।[3] वाणी की कठोरता व कटुता के परिणामस्वरूप ही शर्मिष्ठा तथा देवयानी के मध्य वैर इतना उग्र रूप धारण कर लेता है कि राजकन्या शर्मिष्ठा को देवयानी की तुष्टि हेतु उसका दासीत्व स्वीकार करना पड़ता है। अतः आख्यानकार वाणी की कटुता के दुष्परिणाम को दर्शाकर मधुर वाणी तथा मधुर स्वभावशील बनने की शिक्षा देता है।

(5) दुष्कर्मों का त्याग :—

प्रत्येक मनुष्य को अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है, इसी को लक्षित करते हुये आख्यान में कहा गया है, जिस प्रकार खाया हुआ गरिष्ठ अन्न कुछ समय बाद उदर में उपद्रव करता है अथवा पृथ्वी को जोत-बोकर बीज बोने के कुछ समय बाद पौधा उत्पन्न होकर यथासमय फल प्रदान करता है, उसी प्रकार किया गया अधर्म उस समय तो ज्ञात नहीं होता किन्तु उसका दुष्फल धीरे-धीरे कर्त्ता की जड़ काट देता है।[4] अतः आख्यान की शिक्षा है कि पापपूर्ण कृत्यों से सर्वदा दूर ही रहना चाहिये क्योंकि वे अन्ततः विनाश के ही हेतु होते हैं। आख्यान में दैत्यों के उदाहरण से भी स्पष्ट है यथा—अवध्य ब्राह्मण कच के वध के निरन्तर प्रयास के कारण असुरगुरु शुक्राचार्य क्रोधित होकर दैत्यों के त्याग हेतु उद्यत हो उठते हैं तो उन्हें प्रसन्न करने हेतु दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा को आत्म त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार दैत्यों द्वारा किये गये अधर्म व पापपूर्ण कृत्य का परिणाम उन्हें शर्मिष्ठा के त्याग के रूप में भुगतना पड़ता है।

(6) आत्म त्याग :—

अन्य जनों के कल्याणार्थ किया गया स्वयं का त्याग ही सर्वश्रेष्ठ है। आख्यानकार की शिक्षा है—कुलहितार्थ एक मनुष्य, ग्राम हितार्थ एक कुल, जनपद हितार्थ एक ग्राम तथा आत्मकल्याणार्थ सम्पूर्ण पृथ्वी का त्याग कर दें।[5] किसी एक व्यक्ति के त्याग से यदि अनेक बन्धु-बान्धुवों का कल्याण होता हो तो मनुष्य को आत्मत्याग हेतु सर्वदा प्रस्तुत रहना चाहिये, जिस प्रकार अपने कुल के कल्याणार्थ शर्मिष्ठा अपने अहम्, अपने वैभव व कुल का परित्याग कर राजकन्या होकर भी आजीवन दासीत्व को स्वीकार करने में संकोच नहीं करती।

---

१. महा० १/७६/१३ शनैर्दुर्खशस्त्रविद्याग्निजातंतान् पंडितोनावसृजेद् परेषु

२. महा० १/७६/१३

३. महा० १/७६/१३

४. महा० १/८०/२, ३

५. महा० १/८०/१७

(7) तृष्णा का त्याग :—

तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती अपितु अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। "मनुष्य के जराजीर्ण होने पर भी तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती अपितु घृत में आहुति पड़ने से प्रज्ज्वलित होती हुई अग्नि की भाँति बढ़ती ही जाती है।"[१] अतः आख्यान की शिक्षा है कि मनुष्य को अपनी कामनाओं पर विजय पाकर तृष्णा का त्याग करने का प्रयास करना चाहिये। तृष्णा रूपी प्राणान्तक रोग के त्याग से ही वास्तविक सुख की प्राप्ति सम्भव है।

(8) अहंकार का त्याग :—

अहंकार व्यक्ति के विनाश का कारण बन सकता है अतः आख्यान में अहंकार के त्याग की शिक्षा भी दी गयी है—'तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता, समस्त प्राणियों के प्रति दया—स्वर्गलोक के ये सभी माध्यम अभिमान के तम से आच्छादित हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन, अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन यज्ञादि कर्मों का अभिमानपूर्वक अनुष्ठान करने पर शुभदायक फल प्राप्त नहीं होता।[२] इस प्रकार अहकार मनुष्य के पुण्यों को क्षीण कर श्रीहीनता का का हेतु बनता है।

'महान् धन पाकर कभी हर्ष से उल्लासित न हो, सम्मानित होने पर अधिक अहंकारी न होने तथा अपमानित होने पर कभी संतप्त न हो'[३]–यही आख्यानकार का शिक्षाप्रद सन्देश है। अभिमान का क्या परिणाम हो सकता है यह ययाति के उदाहरण से स्पष्ट है। ययाति अपने अभिमान के कारण ही महान् दानी याज्ञिक व तपस्वी होने पर भी स्वर्ग से पतति होते हैं 'मैं देवताओं, मनुष्यों, गंधर्वों तथा महर्षियों में से किसी को भी तपस्या में आत्मसदृश नहीं देखता।'[४] ययाति की यह गर्वोक्ति ही उनके समस्त पुण्यों को क्षीण कर उन्हें स्वर्ग से पृथ्वी पर ला देती है।

(9) गुरुजनों का सम्मान :—

गुरुजनों के सम्मान से प्राप्त शुभाशीर्वादों से सुख व समृद्धि प्राप्त होती है। आख्यान में भी यही शिक्षा दी गयी है—'गुरुजनों की आज्ञापालन से ही मनुष्यों को पुण्य, स्वर्ग तथा आयु प्राप्त होती है। गुरु स्वरूप पिता के आशीर्वादों से मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।[५] जो पिता के प्रतिकूल हो वह पुत्र नहीं है प्रत्युत् जो सर्वदा माता-पिता की आज्ञा मानकर उनके अनुकूल कार्य करता है वस्तुतः वही पुत्र है तथा वही सम्पूर्ण कल्याण प्राप्त करने योग्य है।[६] ययाति के पुत्र

१. महा० १/८५/१२-१४
२ महा० १/९०/२२-२४
३. महा० १/८९/७, १/९०/२५
४. महा० १/८८/२
५. महा० १/८४/३०
६. महा० १/८५/२४-२५

पुरु के उदाहरण से भी यह स्पष्ट है ययाति के अन्य पुत्र पिता की आज्ञा का पालन न करने के कारण उससे शाप प्राप्त करते हैं किन्तु मात्र पुत्र पुरु ही पिता की आज्ञा शिरोधार्य करने से पिता से सुख-समृद्धि व राज्य के आशीर्वाद को प्राप्त करता है।

(10) अन्य शिक्षायें :—

मात्सर्य तथा वैर का त्याग, कटुता का त्याग, सहिष्णुता, मधुरता आदि अन्य शिक्षायें भी आख्यान में वर्णित हैं। 'मनुष्य को दीनता, शठता, कुटिलता, मात्सर्य तथा वैर को त्याग करना चाहिये। माता-पिता, विद्वान् तथा क्षमाशील व्यक्तियों का कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। क्रोधरहित, सहिष्णु तथा विद्वान् व्यक्ति ही श्रेष्ठ कहलाते हैं। कटु स्वभावी, क्रोधी तथा कठोर व्यक्ति श्रीहीन हो जाते हैं अतः मनुष्य को अपनी कटुता को त्यागकर अपना आचरण इस प्रकार बनाना चाहिये कि उसकी प्रशंसा न केवल उसके सामने अपितु उसके पीछे भी की जाये। दुष्टजनों के निन्दा वचनों को सहन कर व्यक्ति को श्रेष्ठजनों के सदाचार का आश्रय लेकर तत्सदृश अपना आचरण बनाना चाहिये।[1] पूजनीय व्यक्तियों का सर्वदा सम्मान, सभी प्राणियों के प्रति दया, मैत्री तथा मधुर वाणी का प्रयोग—तीनों लोकों में इसके समान अन्य कोई वशीकरण नहीं।[2]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आख्यान एक श्रेष्ठ चरित्र के निर्माण की प्रेरक समस्त शिक्षाओं से ओतप्रोत है। अवगुणों का त्याग करके गुणों को आत्मसात् करने के उपरान्त ही सद् आचरण की कल्पना की जा सकती है। 'आचरण ही वह' कसौटी है जिसमे किसी मनुष्य को परखा जाता है। अतः यदि आख्यान में निहित उपर्युक्त शिक्षाओं को जीवन में ग्रहण किया जाये तो निःसन्देह एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव है।

—:o:—

१. महा० १/८७/५-१०
२. महा० १ ८७/१२-१३

वैदिक ऋषि और पर्यावरण-चेतना

—डा० सुषमा
90, द्वारिकापुरी
मुजफ्फरनगर

परितः आवृणोति इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणिजगत् को सब ओर से आवरण देने वाले प्रकृति के अंग—पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु आदि पर्यावरण कहे जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में पर्यावरणभूत इस प्रकृति के आठ अंग माने गये हैं—पृथ्वी जल, अग्नि वायु और आकाश ये पांच महाभूत तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार रूप अन्तःकरण त्रितय।[1] वैदिक ऋषियों ने कहीं द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथ्वी स्थानी देवता जल, ओषधि, वनस्पति, विश्वेदेवाः और ब्रह्म को पर्यावरण के अंग के रूप में देखा था,[2] तो अन्यत्र प्रकृति के अंगों अथवा उनके अधिष्ठातृ देवताओं का नाम लेते हुए मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, वात, सूर्य, पर्जन्य, दिन और रात्रि तथा इन्द्राग्नि, इन्द्रवरुण, इन्द्रपूजा और इन्द्रसोम इन युग्म देवों को प्रकृति के प्रधान अंग अर्थात् पर्यावरण के रूप मे देखते हुए इनके शुभ होने की कामना की थी।[3] इस कामना के साथ उन्होंने संकेत किया था कि इन्हें शुभ बनाये रखने के लिए मनुष्य का एक विशेष दायित्व है यदि उसने इस दायित्व को पूर्ण नहीं किया, तो उसका कल्याण सम्भव नहीं है। मानव सभ्यता के विकास से ही यह स्वीकार किया जाता रहा है कि मानव और प्रकृति को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है।

प्रकृति के ये अंग देखने में भले ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, परन्तु ये परस्पर पूर्णतया आबद्ध हैं, मनुष्य भी इस पर्यावरण चक्र में पूरी तरह बंधा हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद् का ऋषि "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सभूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधय ओषधिभ्योऽन्नं

---

१. भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अंहकार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। श्रीमद्भगवद्गीता, ७/४

२. द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्म शान्तिः····। यजुर्वेद, ३६ १७।

३. शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ।। शन्नो वातः पवतां शन्नस्तपतु सूर्यः। शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु। अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रीः प्रतिधीयताम् ।। शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या। शन्न इन्द्रा-पूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः।—यजुर्वेद, ३६/८-११।

अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः"[१] कहते हुए इसकी स्पष्ट घोषणा करता है । इसीलिए यजुर्वेद में पर्यावरण और मनुष्य को परस्पर आश्रित कहते हुए सर्वविध सुखों के लिए पर्यावरण को सुरक्षित रखने का स्पष्ट निर्देश किया गया है—"अस्मात् त्वमधिजातोसि त्वदयं जायतां पुनः । असौ स्वर्गाय लोकाय ।"[२] अर्थात् तुम इससे उत्पन्न हुए हो और यदि तुम सुख चाहते हो, तो ध्यान रखो कि यह तुम से उत्पन्न होता है दूसरे शब्दों में तुम्हारे क्रिया-कलापों से इसकी शुभता बनी रहे ।

पर्यावरण की इस शुभता को बनाये रखने के लिए वैदिक ऋषि संकल्प लेता है "आयुर्यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्र यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनोयज्ञेन कल्पताम् आत्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पताम्"[३] इत्यादि । अर्थात् आयुष्य, प्राणवत्ता, चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन आदि अन्तरिन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की सुरक्षा या बलवत्ता यज्ञ पर ही निर्भर है । वैदिक ऋषियों की इसी भावना को स्वीकार करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में प्राणियों का मूल अन्न, अन्न का मूल पर्जन्य और पर्जन्य का मूल यज्ञ है, ऐसा कहते हुए प्रकारान्तर से समस्त प्राणियों के सौख्य का मूल यज्ञ बताया गया है । इसी रहस्य को ब्राह्मणग्रन्थों में 'स्वर्गकामो यजेत्,' अग्निहोत्रेण जुहुयात् स्वर्गकामः, सोमेन यजेत् स्वर्गकामः, अश्वमेधेन यजेत् स्वर्गकामः इत्यादि वाक्यों द्वारा बार-बार घोषित किया गया है ।

पुराणों में स्वर्ग में भोगों की उपलब्धि कल्पवृक्ष और कामधेनु से ही होती है, यह कथन भी इस प्रयोजन से है कि यदि मनुष्य अपने भोजन, वसन और आवास के लिए वृक्ष आदि वनस्पतियों एवं गो आदि पशुओं पर निर्भर रहेगा, तभी वह समस्याओं से मुक्त और पूर्ण सुखी रह सकेगा, अन्यथा नहीं । पशुओं और वनस्पतियों का आश्रय छोड़कर उद्योग आदि के द्वारा भोग साधनों को सुलभ करने के प्रयास में पर्यावरण में जो अशुद्धता और असन्तुलन उत्पन्न होता है, वह अनन्त दुःखों का कारण होता है, जिसे आज हम प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं ।

भारतीय संस्कृति में वृक्षों को जीवन का मित्र माना गया है । इसी कारण प्राचीन काल में भारत भूमि शस्यश्यामला रही है । यहाँ फल और कन्दमूल का

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, २/१ ।

२. यजुर्वेद, ३५/२२ ।

३. यजुर्वेद, १८/२९ तथा २२/३४ ।

४. अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।
—श्रीमद्भगवद्गीता, ३/१४ ।

भण्डार रहा है। वृक्ष-वनस्पतियों पर ही आश्रित होकर जीने वाले गो आदि पशुधन की समृद्धि से घी, दूध आदि की नदियां बहती रही हैं। सम्प्रति न केवल पौष्टिक आहार (घी, दूध आदि), अपितु सामान्य खाद्य पदार्थों के अतिशय अभाव का कारण जीवनमित्र वृक्षों का नाश ही है। वर्षा का अभाव, बाढ़ से फसलों का विनाश, भूस्खलन से जन और धन की बर्बादी आदि प्रायः सभी आपदाएं जीवन मित्र वृक्षों के नाश के कारण ही उत्पन्न हुई हैं।

प्रकृति पर आश्रित ऋषियों ने जहां नदियों आदि में सुलभ जल को अमृत का ओढ़ना और बिछौना (अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि)[1] माना था, वहीं आज प्रदूषण के कारण गंगा और यमुना आदि नदियों का जल कानपुर, दिल्ली, मथुरा आदि नगरों में स्नानयोग्य भी नहीं रह गया है।[2] वैदिक ऋषियों ने 'मधुवाता ऋतायते'[3] आदि मन्त्रों में वायु, जल और वनस्पतियों को मधुमय माना था; इसके विपरीत दिल्ली आदि जैसे महानगरों में कार्बन-मोनो आक्साइड आदि प्रदूषण फैलाने वाली गैसों के कारण सड़कों मुख्यतः चौराहों पर वायु श्वास लेने योग्य भी नहीं है। नगरों के किनारे उत्पन्न होने वाली शाकभाजी पीलिया जैसे रोगों का कारण बन रही है।

प्रकृति को छोड़कर औद्योगीकरण की होड़ के कारण उत्पन्न ताप और प्रदूषण से सूर्य की पराबैंगनी किरणों को पृथिवी पर आने से रोकने वाली ओजोन परत का छिन्न-भिन्न होना आज के वैज्ञानिकों के मत में ही मनुष्य के अस्तित्व के लिए भी चुनौती बनता जा रहा है। इसलिए वैदिक ऋषियों ने प्रकृति की गोद में जीवन जीने को सर्वोत्तम माना था तथा मानव आदि प्राणियों के श्वास-प्रश्वास, मल-विसर्जन आदि से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण के निराकरण के लिए यज्ञ-याग आदि को अनिवार्य कर्त्तव्यों में निर्धारित किया था। उन्होंने पृथ्वी को, जल को माता की गोद के रूप में स्वीकार किया था[4] और उनकी पवित्रता बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार के नियम निर्धारित किये थे।[5]

पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये वैदिक ऋषियों ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक को अविभाजित रखना अर्थात् देश-प्रदेश आदि की सीमाओं में विभा-

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र १.२४,१२.२१।
२. जनसत्ता, दिनांक २१.११.१९९३।
३. यजुर्वेद १३.२७।
४. (क) माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः
(ख) वाजस्य नु प्रसवे मातरम्महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यजुर्वेद ९/५, १८/३०
(ग) आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु……।—यजुर्वेद ४।२
५. द्याम्मालेखीरन्तरिक्षं माहिंसीः ………।—यजुर्वेद ५-४३

जित न करना अत्यन्त आवश्यक माना था । उन्होंने स्पष्ट कहा था 'वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीम् अदितिं नाम वचसा करामहे'[1] अर्थात हम पृथिवी माता को अखण्डनीय (अखण्डित) बनाये रखें, तभी अन्न आदि ऐश्वर्य प्राप्त हो सकेगा । 'अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षम् अदितिर्माता'[2] इत्यादि मन्त्रों में अन्तरिक्ष, द्युलोक को भी अविभाजित रखने का उन्होंने व्रत लिया था ।

भूमि, समुद्र और आकाश आदि का विभाजन पर्यावरण-प्रदूषण को मानों लाइसेंस देना है । आज अमेरिका ने अपने नागरिकों को पर्यावरण-प्रदूषण से न्यूनतम हानि हो, इसलिए अपने अनेक बड़े-बड़े कल-कारखाने देश की कनाडा से लगी उत्तरी सीमा पर ही लगा रखे हैं । बदले में यही काम कनाडा ने किया है । उसके भी अधिकांश बड़े उद्योग उसकी दक्षिणी सीमा पर हैं, जो सीमा अमेरिका से लगी हुई हैं । अमेरिका, रूस, चीन आदि अपनी भूमि या आकाशीय सीमा में परमाणु परीक्षण करते है भले ही दूसरे बोल नहीं सकते, किन्तु विश्व-पर्यावरण तो प्रदूषित हो रहा है । नगरों में भी अपने घर की सीमा में पूरी तेज ध्वनि में लोग रेडियो, टेलिविजन, टेप-रिकार्ड चलाते हैं, देवी-जागरण या कीर्तनों के नाम पर लाउडस्पीकर से शोर मचाते हैं, बम-पटाखों का प्रयोग करते हैं, कोई कुछ कह नहीं सकता, क्योंकि वे लोग उक्त क्रियाएँ अपनी भूमि-सीमा में करते हैं, परन्तु समाज के लोगों के कान बहरे होते हैं, स्नायुरोग और मस्तिष्क के रोग उत्पन्न होते हैं ।[3] यह सब अभिशाप भूमि, आकाश आदि के दिति अर्थात् विभाजित करने, सीमाएँ बनाने के कारण हो रहा है । भूमि, अन्तरिक्ष आदि को अविभाजित और पूर्ण प्रदूषण-मुक्त बनाये रखने की भावना से ही वैदिक ऋषियों ने भूमि को माता और द्यौः को पिता माना था ।[4]

पर्यावरण की पवित्रता की दृष्टि से वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के प्रत्येक अंग को एक को एक दूसरे से सम्बद्ध माना था । इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद् में आकाश से लेकर अन्न रस और मनुष्य को भी परस्पर सम्बद्ध बनाया गया है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । यजुर्वेद के दीर्घतमा ऋषि ने भी सविता, अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, ऋत, मरुत, बृहस्पति, मित्र, वरुण, इन्द्र और विश्वदेव सभी को एकावली क्रम से सम्बद्ध देखा था ।[5]

---

१. यजुर्वेद, ९-५, १८-३०

२. यजुर्वेद, २५-२३

३. जनसत्ता २१-११-१९९३

४. ....तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः । यजुर्वेद २५-१७

५. सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पंचम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे । मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे । —यजुर्वेद, ३९-६

प्रकृति के इन अंगों को परस्पर सम्बद्ध मानने का तात्पर्य था कि अनिवार्यतः होने वाले प्रदूषण को वे मिल कर दूर कर लिया करते हैं, जिससे सब पूर्ण शुद्ध और अमृतमय बने रहें। उदाहरण के लिए वैदिक ऋषियों ने 'इदमापः प्रवहत अवद्यं च मलं च यत्,'[1] आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु'[2] इत्यादि मन्त्रों में जल को सभी प्रकार के मलों को बहा ले जाने वाला और पवित्र करने वाला कहा है। दूसरी ओर 'अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः'[3], 'अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यं दधद् रयिं मयि पोषम्'[4] इत्यादि मन्त्रों में अग्नि को प्रकृति को पवित्र करने वाला तो कहा ही गया है, साथ ही इष, ऊर्ज, वर्चस् और पराक्रम देने वाला भी बताया गया है। वैदिक ऋषियों ने जल और अग्नि को ही नहीं, वायु और सविता को भी पर्यावरण को पवित्र बनाये रखने में नहीं भुलाया है। वे कहते हैं— 'वायु पुनातु सविता पुनातु अग्ने भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा।'[5] अर्थात् अग्नि के तेज और सूर्य के वर्चस् को प्राप्त कर वायु और सविता भी पर्यावरण को पवित्र करते हैं।

पर्यावरण की न केवल पवित्रता सुरक्षित रखने के लिए, अपितु उसकी गुणवत्ता में वृद्धि के लिए और परिस्थिति विशेष में उसे अपने अनुकूल अर्थात् सम्भावित रोग आदि से बचाव हेतु कीटाणु रहित करने के लिए वैदिक ऋषियों ने यज्ञ करने पर बल दिया है और यज्ञों में भी विशेष द्रव्यों का प्रयोग करने का निर्देश किया है। यजुर्वेद के तृतीय अध्याय के बासठवें मन्त्र[6] में नियमित यज्ञ कर्म करके तीन गुना अर्थात् तीन सौ वर्ष का आयुष्य प्राप्त होने का संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त आयुष्य, प्राण आदि की वृद्धि अथवा सबलता की कामना का उल्लेख यजुर्वेद के अट्ठारहवें अध्याय के उन्तीसवें-तीसवें और बाईसवें अध्याय के चौंतीसवें मन्त्र में भी हुआ है, जिसका संकेत पहले किया जा चुका है। वातावरण को कीटाणु रहित करके रोगों से रक्षा के लिए प्रसूति गृह के द्वार पर भात, सरसों और घृत की आहुतियां देने का विधान है।[7] मन्त्र ब्राह्मण में शरीर के सभी अंगों—सन्धियां पक्ष्म, दांत, हाथ, पैर, उरु आदि के दोषों को यज्ञ में दी जाने वाली घृत की आहुति से दूर करने की व्यवस्था वैदिक ऋषियों ने जिन मन्त्रों में दी है, वे अवश्य द्रष्टव्य

---

१. यजुर्वेद, ६-१७
२. यजुर्वेद, ४-२
३. यजुर्वेद, १९-३८, ३५-१६
४. यजुर्वेद, ८-३८
५. यजुर्वेद, ३५-३
६. त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ —यजुर्वेद, ३-६२
७. पारस्करगृह्यसूत्र, १-१६-२२

हैं—लेखा सन्धिषु पक्ष्मसु आरोकेषु च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् । आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयो पादयोश्च यत्० । ऊर्वोरूपस्थे जंघयोः सन्धानेषु च यानि ते तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् । यानि कानि च घोराणि सर्वाणि तवाभवन् । पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमम् ।[1] इतना ही नहीं वेदों में विपरीत पर्यावरण को घृत की आहुतियों से अनुकूल बनाने का भी वर्णन मिलता है ।[2]

मानव के लिए अनुकूल पर्यावरण की दृष्टि से वैदिक ऋषियों ने जल को सर्वाधिक महत्त्व दिया है । एक मन्त्र में जल को दिव्य कहते हुए उसे अभीष्ट फलों को देने वाला, पालन करने वाला और कल्याण की वर्षा करने वाला कहा गया है ।[3] उसे अमृत को ओढ़ना और बिछौना भी कहा गया है, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । 'श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः । ता अस्मभ्यम् अयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः'[4] इत्यादि मन्त्र में पीने के बाद उदर में पहुंचने पर जल को तत्काल सुखदायक, रोग के कीटाणुओं तथा उनके भी मूल सभी प्रकार के मलों को दूर करने वाला कहा गया है। 'अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्'[5] इत्यादि मन्त्र में जल में अमृत और ओषधि तत्त्व होना स्वीकार किया गया है । एक अन्य मन्त्र में जल को मधुमान् ऊर्जस्वी स्वीकार किया गया है ।[6] वैदिक ऋषियों की दृष्टि में जल धन का पोषक है ।[7] कृषि का आधार होने से जल की धन-पोषकता निर्विवाद सिद्ध भी है । जल सुख का आधार है, ऊर्जस् का देने वाला है और शिवतम अर्थात् सर्वाधिक कल्याणप्रद है, इसी कारण मातृतुल्य है ।[8] अनेक स्थलों पर तो ऋषियों ने जल को माता ही कहा है ।[9]

---

१. मन्त्रब्राह्मण, १-३-१-६

२. या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति । तां त्वा घृतस्य धारया यजे संराधनीमहम् ।
विपश्चित्पुच्छमभरत् तद्धाता पुनराहरत् । परे हि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यते । —मन्त्रब्राह्मण १-५-६-७

३. शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभि स्रवन्तु नः ।
—यजुर्वेद, ३६-१२

४. यजुर्वेद, —४-१२

५. यजुर्वेद, —९-६

६. आपो देवी मधुमतीरगृभ्णन् ऊर्जस्वती राजस्वश्चिताना । यजुर्वेद, १०-१

७. रायस्पोषस्थ रायस्पोषं वो भक्षीय । —यजुर्वेद, ३-२०

८. (क) आपो हिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन । —यजुर्वेद, ११-५०
(ख) यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ।
—यजुर्वेद, ११-५१

९. आपो अस्मान्मातरः । —यजुर्वेद, ४-२

पर्यावरण के प्रसंग में वैदिक ऋषियों की दृष्टि में अग्नि का महत्त्व भी किसी से कम नहीं है। उनकी दृष्टि में अग्नि समस्त प्राणियों की उसी प्रकार रक्षा करता है, जिस प्रकार पिता पुत्र की करता है।[1] पर्यावरण की शुद्धता में उसका योगदान सर्वाधिक है, इसलिए वैदिक ऋषियों ने उसका एक नाम पावक भी रखा है।[2] पवमान विशेषण भी अग्नि के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।[3] अग्नि की इस विशेषता के कारण ही उसके द्वारा पर्यावरण की पूर्ण शुद्धि की कामना की गयी है। 'यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा।'[4] 'पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्।'[5] जातवेदा पुनीहि मा'[6] आदि वेदवचन इसके उदाहरण हैं।

यतः पर्यावरण कि शुद्धता पारिवारिक सुख-समृद्धि और सर्वविध वैभव का आधार है, अतः अग्नि को प्रदीप्त करते हुए उसके द्वारा इष्टापूर्त (कूप, तड़ाग आदि की सम्पत्ति), प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस् तथा अन्न आदि सर्वविध भोग पदार्थों की प्राप्ति की आशा की गयी है।[7] उसे वीतिहोत्र अर्थात् अन्नादि भोगसाधनों को देने वाला, वाजजित् अर्थात् अन्नादि का स्वामी एवं सर्वविध सुख प्रदान करने वाला माना गया है।[8] अग्नि की इन अद्भुत विशेषताओं के कारण वैदिक ऋषियों ने अग्नि को विविध रूप से, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से, आने वाले संकट रूपी

---

१. स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव। यजुर्वेद, ३-२४; ऋग्वेद १-१-९
२. (क) पावको अस्मभ्यं शिवो भव। यजुर्वेद, १७-७
   (ख) अग्ने पावक रोचिषा०। यजुर्वेद, १७-८
   (ग) स नः पावक दीदिवोऽग्ने०। यजुर्वेद, १७-९
३. (क) अग्नि ऋषि पावमानः पाञ्चजन्यः। ऋग्वेद, ९-६६-२०
   (ख) पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता सः पुनातु मा। यजुर्वेद, १९-४२
   (ग) अजीजनो हि पवमानः। यजुर्वेद, २२-१८

---

४. यजुर्वेद, १९-४१
५. यजुर्वेद, १९-४०
६. यजुर्वेद, १९-३९
७. (क) उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयं च। यजुर्वेद, १५-५४
   (ख) अय त इध्म आत्मा जातवेदस्तेध्यस्व वर्धस्व चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन अन्नाद्येन समेधय। आश्वलायनगृह्यसूत्र, १-१०-१२
८. (क) वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे। यजुर्वेद, २-४
   (ख) अग्ने वाजजित्! वाजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजितम् सम्मार्ज्मि। यजुर्वेद, २-७
   (ग) तन्त्वा घृतस्नवीमहे, चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवाँ आ वीतये वह। —समावेद।

असुरों से हमारी रक्षा करने वाला स्वीकार किया था ।[1]

वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण की पवित्रता के लिए जल, अग्नि के अतिरिक्त वायु, सूर्य,[2] सोम,[3] विश्वेदेवाः[4] आदि नामों से प्रकृति के सभी अंगों को उत्तरदायी माना था। उनकी मान्यता थी कि प्रकृति के साथ यदि खिलवाड़ न किया जाये, तो उसके सभी अंग निरन्तर पर्यावरण को शुद्ध बनाये रखने के लिए तत्पर रहते हैं। आवश्यकता केवल यह है कि मनुष्य प्रकृति पर ही निर्भर रहने का प्रयत्न करे। प्रकृति से अधिक छेड़-छाड़ अच्छी नहीं होती। प्रकृति सदा पारिस्थितिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहती है। पर्यावरण प्रदूषण की समस्या का मुख्य कारण मानव द्वारा प्रकृति पर्यावरण का अनुचित ढंग से उपयोग है। बिना सोचे-समझे प्राकृतिक संसाधनों का शोषण करना तथा पारिस्थितिक सन्तुलन को बिगाड़ना पर्यावरण-प्रदूषणके आधारभूत कारण हैं। पर्यावरण-प्रदूषण के कारण समस्त मानव-जाति सामान्य रूप से तथा औद्योगिक एवं विकासशील राष्ट्र विशेष रूप से पीड़ित हैं। मनुष्य ने जब से प्रकृति का अनुचित ढंग से दोहन करना प्रारम्भ किया है, तब से प्रदूषण की समस्या अधिक गहराई है। प्रदूषण की समस्या महा उद्योगोंकी समृद्धि का बोनस है, मानव को मृत्यु के मुख में धकेलने की मनचाही चेष्टा है बीमारियोंको बिना

---

१. ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो ये भरन्ति अग्निष्टाल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् । —यजुर्वेद, २-३०

२. (क) शन्नो वातः पवतां शन्नस्तपतु सूर्य्यः । —यजुर्वेद, ३६-१०

(ख) वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अतिद्रुतः ।—यजुर्वेद, १९-३

(ग) अद्या देवा उदिता सूर्य्यस्य निरहंसः पिपृता निरवद्यात् ।

—यजुर्वेद, ३३-४२

३. सोमः पवते अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवत इष ऊर्जे पवतेऽद्भ्यः ओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य० । —यजुर्वेद, ७-२१

४. (क) वैश्वदेवी पुनती देवी आगात्० । —यजुर्वेद, १९-४४

(ख) उभाभ्यामद्य सवितः पवित्रेण सवेन च । मां पुनीहि विश्वतः ।

—यजुर्वेद, १९-४३

मांगे शरीर में प्रवेश की सुविधा है, प्राणिमात्र के अमंगल की अप्रत्यक्ष कामना है। रॉथय हैरी (Rotham Harry) ने अपनी पुस्तक 'A study of Pollution in Industrial Societies' में पर्यावरण-प्रदूषण के विषय में लिखा है कि "पर्यावरणीय प्रदूषण, जो मानवीय समस्याओं की प्रकृति के ताने-बाने तक पहुंचता है, स्वयमेव सामान्य सामाजिक संकटों का प्रमुख अंग है। यदि सभ्यता को लौटकर बर्बर सभ्यता तक नहीं आना है, तो उस पर विजय प्राप्त करना अत्यावश्यक है।[१]

निस्संदेह पर्यावरण-प्रदूषण एक गम्भीर समस्या है। आज हम सभी वायु, जल, मिट्टी, विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों इत्यादि में शुद्धता का अभाव पाते हैं। परिवहन के साधनों में अत्यधिक वृद्धि, अन्धाधुन्ध नगरीकरण, औद्योगीकरण, यंत्रीकृत कृषि, अत्यधिक वृक्ष-कटाव आदि के कारण वातावरण में प्रदूषण व्याप्त होता जा रहा है। जैसा कि हमने पहले संकेत किया है कि वृक्षों और पशुओं पर अपने जीवन को आश्रित बनाकर रखने पर मनुष्य स्वर्गीय सुख का अनुभव कर सकता है।

पर्यावरण-प्रदूषण का नाम लेने पर स्थूल रूप से हमारा ध्यान पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और अन्तरिक्ष आदि की ओर जाता है, क्योंकि जल, वायु, अग्नि, मृदा, ध्वनि आदि प्रदूषण स्थूल पंचभूतों में ही होते हैं। परन्तु अष्टधा प्रकृति में से मन, बुद्धि, अहंकार में लोभ, मोह, क्रोध अथवा संकीर्ण स्वार्थ लिप्सा से जो प्रदूषण होता है, उसे वैचारिक प्रदूषण कहते हैं। प्राचीन काल में जब भारतीय संस्कृति अपने तेजस्वी रूप में प्रतिष्ठित थी और उसके फलस्वरूप जन-जन के विचारों में शुद्धता, समता और परोपकारिता आदि गुण विद्यमान थे, उस समय पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या नहीं रही है। उस काल में अग्नि, जल, वायु, पृथिवी आदि को देवता के रूप में अथवा माता के रूप में स्वीकार किया जाता था और उनको परिशुद्ध बनाये रखने के लिये समाज अत्यन्त गतिशील था।[२] स्थूल पर्यावरण-प्रदूषण के पीछे वैचारिक (मानसिक) प्रदूषण मुख्य कारण हुआ करता

---

१. Environmental pollution which carries mankind's problems into the very structure of nature itself, is a major part of general social crises which must be overcome if civilization is not to relapse into barbarism.
—A study of pollution in Industrial Societies.
—Rotham Harry.

२. अग्ने गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहा
इन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा पृथिवी मातर्मा मांहिंसीः मो अहं त्वाम् ॥
—यजुर्वेद, १०/२३

है और उस वैचारिक प्रदूषण में भी संकुचित स्वार्थ, लोभ, विषय-वासना और उसकी पूर्ति के लिये साधन एकत्र करने की प्रवृत्ति कारण हुआ करती है। फलस्वरूप प्रदूषित विचारों वाला मानव जीवहिंसा, मित्रवृक्षों का नाश, असंतुलित तीव्र औद्योगीकरण, शहरीकरण आदि में प्रवृत्त होता है। यह वैचारिक प्रदूषण भौतिक प्रदूषणों का जनक अथवा संवर्धक है।

भारतीय संस्कृति की सभी परम्पराओं में वैचारिक प्रदूषण से बचने के लिये निर्विवाद रूप से स्वीकृत रहा है—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूत जलं पिवेत्।
सत्यपूतां वदेत् वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥[1]

मानसिक (वैचारिक) प्रदूषण प्राकृतिक प्रदूषण से भी अधिक भयावह है। इसीलिये वैदिक ऋषियों ने 'पावका: नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः'[2] इत्यादि मन्त्रों में विद्या-बुद्धि की देवी सरस्वती को भी पवित्र करने वाली स्वीकार किया था। क्योंकि बुद्धि की पवित्रता और शुद्धता के बिना तो पर्यावरण के किसी अंग की पवित्रता एवं शुद्धता सुरक्षित नहीं रह सकती। लोभ, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, मद, मात्सर्य आदि विकार मानव की बुद्धि को विकृत एवं दूषित करते हैं, जिसके फलस्वरूप वह प्रकृति को माता मानकर प्रेम करने के स्थान पर उस पर विजय पाने की इच्छा करता है और औद्योगिक योजनाओं के के फेर में पड़कर पर्यावरण को इतना विकृत कर देता है या कर सकता है कि आज ओजोन परत के क्षरण के फलस्वरूप सर्वनाश को भी निमन्त्रण दे चुका है। इसलिये बुद्धि को भी प्रदूषण से बचाकर रखने के लिये वैदिक ऋषियों ने देवी सरस्वती को पावक (पवित्र करने वाली) के रूप में भी पहचाना था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण के सभी अंगों का साक्षात्कार किया था, उनके गुण-धर्म को, उनकी महत्ता को समझा और पहचाना था। उन अंगों में विकार क्यों और कैसे आ सकता है, इसे भली प्रकार समझकर पर्यावरण-प्रदूषण से सर्वतोभावेन मुक्त बने रहने के लिये पृथिवी, जल आदि को माता के रूप में, द्यौः और सूर्य आदि को पिता के रूप में मानकर, उनके प्रति आदरभाव रखकर उनकी शुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने का संकल्प लिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने पर्यावरण की गुणवत्ता बढ़ाने के भी उपाय खोजे थे और उनके लिये वे सतत प्रयत्नशील थे। इसीलिये उनकी यह मान्यता 'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'[3] कार्यान्वित होती रही है और यतो यतः समीहसे ततो

---

१. मनुस्मृति ६/४६
२. यजुर्वेद, २०/८४
३. यजुर्वेद, ३६/१८

नो अभयं कुरु। शं नः कुरु प्रजाभ्यो अभयं नः पशुभ्यः"[1]; अभयं न करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु[2] इत्यादि मन्त्रों में अभिव्यक्त सर्वतोभावेन अभय की कामना पूर्ण होती रही है।

सर्वविध पर्यावरण-प्रदूषणमुक्त अतएव आनन्दमय एवं मधुर लोक-जीवन की झांकी वैदिक कवि ने कामना के रूप में निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त की है—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमान् अस्तु सूर्य्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः।[3]

अर्थात् सर्वतोभावेन पर्यावरण-प्रदूषण मुक्त समाज इतना सन्तुष्ट और आनन्दित हो, जिससे प्रत्येक प्राणी यह अनुभव करे, मानो समस्त वायुमण्डल उसके लिये मधु की वर्षा कर रहा है, नदियां मधु की धारा प्रवाहित कर रही हैं, औषधियों से मधु का स्रवण हो रहा है। दिन-रात भी मधुमय है, पृथिवी का कण-कण मधुमय है, द्युलोक में स्थित ग्रहमण्डल पिता के समान मधु रूपी स्नेह से सबको आप्लावित कर रहा है। वनस्पति, सूर्य, चन्द्र और गौवें सभी में माधुर्य का वितरण कर रही हैं। क्यों न आज भी हम सकल लोक को पर्यावरण-प्रदूषण से मुक्त कर इसी मधुमय सागर में अवगाहन करें।

—:०:—

१. यजुर्वेद ३६/२२
२. अथर्ववेद १९/१५/५-६
३. यजुर्वेद, १३/२७-२९

विश्व पर्यावरण एवं अथर्ववेद

डॉ० दुर्गा प्रसाद मिश्र
संस्कृत विभाग
मेरठ कॉलिज, मेरठ

आज प्रकृति या पर्यावरण के साथ मनुष्य के सम्बन्धों की चर्चा करना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हो गया है। प्रकृति मानव के साथ जल, वायु, मृदा, जीव जगत्, पादप, खनिज, कृषि, आदि कई रूपों में जुड़ी है। मानव का प्रारम्भिक सम्बन्ध-सूत्र प्रकृति के साथ पहले आत्मीयता का था। अब विज्ञान प्रौद्योगिकी और सभ्यता के विकास के युग में इतना वदल गया है कि वह उसे मात्र दोहन का स्रोत समझने लगा है। यह दोहन की प्रवृत्ति ही प्रदूषण का कारण बनी।

ब्रह्माण्ड की संरचना में एक व्यवस्था है। धरती के संरचनात्मक स्वरूप में पहाड़, घाटियों और भूगर्भीय विशिष्टताओं का योग मिलता है। सृष्टि के आरम्भ में जीव जन्तु, बनस्पति, जलवायु आदि सृष्टि के अगों में साम्यावस्था थी, परस्पर एक सन्तुलन था किन्तु इनकी असन्तुलनावस्था का प्राणि जगत् पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

विश्व के प्रायः सभी देशों के चिन्तक प्राकृतिक संसाधनों के तेजी से समाप्त होने और पर्यावरण असन्तुलन के कारण होने वाली महाविभीषिका की धीरे-धीरे अनुभूति कर रहे हैं। सन् १९७० में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव श्री ऊथांट ने पर्यावरण-प्रदूषण की भयावह समस्या की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा था—"**पृथ्वी पर प्रदूषण इतना उग्र हो चला है कि भूमण्डल पर रहने वाले सम्पूर्ण मानव समाज के अस्तित्व को ही भय हो गया है। विश्व के सभी देशों को** भविष्य में इस समस्या पर गम्भीर विचार करना चाहिये।" इसी परिप्रेक्ष्य में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में १९७२ में ५ से १६ जून तक स्वीडन की राजधानी स्टाकहोम में मानव पर्यावरण पर एक सम्मेलन आयोजित किया गया। सन् १९९२ में जकार्ता में १ से ६ सितम्बर के मध्य गुटनिरपेक्ष देशों का पर्यावरण पर एक शिखर सम्मेलन हुआ। पर्यावरण के अवयवों में मिट्टी, जल, वायु, जनसंख्या, पशु, उद्योग, वाहन, ध्वनि, कृषि, वन, प्रकाश विकरण, निरर्थक सामग्री आते हैं। यजुर्वेद में ऋषि ने इस प्रकार की नौ वस्तुओं की ओर संकेत किया है—द्यौ अन्तरिक्ष, पृथिवी, आपः, औषधि, वनस्पति, विश्वेदेवा, ब्रह्म, सर्व (शेष) भौतिक विज्ञान के अनुसार पर्यावरण प्रदूषण के अंगों में द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, वनस्पति की गणना की गई है। शेष का महत्त्व अभी विज्ञान की दृष्टि से ओझल है।

दृश्य तथा अदृश्य जगत् को सब ओर से आवृत करने वाला पर्यावरण है, अतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही पर्यावरण में समाहित है। "कोई भी बाहरी शक्ति जो हमें प्रभावित करती है पर्यावरण है"—रास ! "प्रत्येक वह वस्तु जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरती है एवं उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है, पर्यावरण है"—जिसबर्ट वस्तुतः पर्यावरण में सभी भौतिक, अभौतिक तथा मानव रचित वस्तुयें सम्मिलित हैं जो उसे प्रभावित करती हैं।

पर्यावरण के असन्तुलन को देखते हुए 'साइंस एडवाइजरी कमेटी यू. एस. ए. ने १९६५ में यह निर्णय दिया कि 'पूर्णतः या अधिकांशतः मानव के क्रिया कलापों प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभावों, ऊर्जा संगठनों में परिवर्तन, भौतिक तथा रासायनिक संरचना तथा जीवाणुओं की उपलब्धता एवं पर्यावरण में अवांछनीय परिवर्तन प्रदूषण कहलाता है।

पृथ्वी का भू और जल तत्व सदैव सक्रिय रहता है। वृक्ष आक्सीजन छोड़ते हैं, जल में अनेक गैसें हैं तथा वाष्पीकरण वायु को प्रभावित करता है। जल वायु, भू, पादप और जैविक तत्त्व एक प्रक्रिया में परस्पर एक दूसरे को क्रियान्वित करते हैं और परस्पर सन्तुलन बिठाते हैं। सन्तुलन बिगड़ने पर जीवन में संकट उपस्थित हो जाता है। आज पृथ्वी का प्रदूषण भूस्खलन, मरुस्थलीकरण, कटाव, रासायनिक कारणों से उर्वरा शक्ति की समाप्ति, बाढ़, सूखा, भूचाल, ज्वालामुखी आदि रूपों में हो रहा है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, का रूप आज समाप्त हो रहा है।

हामरे देश में वृक्षों के देवत्व और उनकी पूजा की परम्परा प्रचीन है। गीता में कृष्ण अपने को अश्वत्थ बताते हैं और उन्होंने वनस्पति जगत् के संतुलनार्थ ही 'पत्र पुष्पं फल तोयम यो मे भक्त्या प्रयच्छति' कहकर पर्यावरण का संतुलन द्योतित किया वे रत्न या हिरण्य की बात नहीं करते हैं। महाभारत में भी—

एको वृक्षो हियो ग्रामे भवेत् पर्णफलान्विता।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीय सुपूजितः॥

बौद्ध एवं जैन परम्परा भी वृक्ष को पूज्य मानती है। इसी प्रकार जीव जगत् का भी पूर्ण सम्मान था। छान्दोग्योपनिषद् में 'अजाहिंकारोवऽथ प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहार पशून न निन्देत्तदवतम्' पशु निन्दा का निषेध किया गया है, आज अनेक जीवों की प्रजातियाँ समाप्त होती जा रही हैं। हमारे यहाँ प्राचीन काल में ही वराह, कूर्म, कच्छप, नरसिंह आदि अवतार रूपों में ही तथा हिरण, हाथी, कुत्ता, बिल्ली, चूहा को देवता का वाहन मानकर अपार ममता व सम्मान दिया है। हमारे मनीषियों ने एक समय 'वसुधैव कुटुम्बकम्" का नारा दिया था। आज विज्ञान भी इसी के निकट पहुंच रहा है। जीवीय और अजीवीय तत्व एक ही व्यवस्था के अंग हैं। अजीवीय में वायु, मृदा, तापक्रम, आर्द्रता प्रकाश आदि जीवन को सम्भव बनाते हैं।

मानवीय क्रिया कलापों के कारण प्रकृति का सन्तुलन विगड़ता जा रहा है स्थल, वायु और जीवमण्डल एक सुनिर्धारित इकोसिस्टम के अन्तर्गत कार्य करते हैं। एक की क्षति का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है। आज विश्व में लगभग ५० लाख रासायनिक तत्त्व, बत्तीस अरब क्यूबिक मीटर दूषित द्रव्य, दो अरब पचास लाख टन धूल, 60 करोड़ टन जहरीली गैस, करोड़ों मृत पशु, भूमि को दूषित कर रहे हैं। साथ ही कूड़ा, कचरा, काँच, रद्दी, कागज, कपड़े, टीन, डिब्बे, सड़ा भोजन का ढ़ेर लग रहा है।

तापक्रम सम्बन्धी सूक्ष्म परिवर्तन से होने वाली नुकसान की आशंका स्टाक-होम से प्रसारित एक रिपोर्ट डॉ० बोड्स का अनुमान है कि १९९०–२०२० के बीच हर रोज ५० जीव और पादप प्रजातियाँ समाप्त होती जाएगीं। अतः तापक्रम नियन्त्रण आवश्यक है। कार्वन डाई आक्साइड की मात्रा २०२० तक ३०-४०% तक तथा २०२५ तक १००% हो जाएगी।

जनसंख्या का बोझ जीवन की गुणता को खतम करता है उससे पर्यावरण की गुणता नष्ट होती है। आज पूरा विश्व बढ़ती जनसंख्या को पर्यावरण असन्तुलन का कारण मान रहा है। लेकिन वैदिक ऋषियों ने आश्रम व्यवस्था इसीलिये की थी ताकि जनसंख्या का दबाव मात्र शहरों या गाँवों में ही पड़े अपितु नअरण्यों में भी, वनस्पतियों का सम्यक् विकास एवं लोगों का जीवननिर्वाह होगा।

पृथ्वी के चारों ओर लगभग ३०० किमी० मोटी परत को वायुमण्डल कहते हैं। वायु में नाइट्रोजन, आक्सीजन, कार्बन डाई आक्साइड, जलवाष्प, धूल के कण आदि का मिश्रण है। गत सौ वर्षों में (१८९ –१९९०) कार्बन डाई आक्साइड की मात्रा में १०% की वृद्धि हुई है। वायु का प्रदूषण सर्वाधिक हानिकारक है। गैसीय प्रदूषकों में कार्बन डाई आक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड, सल्फर डाई आक्साइड, हाइड्रोजन, अमोनिया, क्लोरीन आदि हैं। कुछ विविध प्रदूषक जो वायु में द्रव्य अथवा ठोस अवस्था में मिश्रित रहते हैं और बाद में पृथ्वी पर आ जाते हैं। इनमें धूल, धुंआ, धूम, धुंध, कोहरा आदि हैं जो नेत्र, फेफड़े तथा फसल को हानि पहुंचाते हैं। ये वायु प्रदूषण वस्तुतः दहन-प्रचालन, औद्योगिक उत्सर्जन, सामाजिक क्रिया कलाप, पर्यावरण विकिरण, तापीय बिजली घर आदि से होते हैं। अथर्ववेद में इस प्रदूषण के निवारणार्थ अनेक समाधान प्राप्त होते हैं।

यज्ञ को पर्यावरण-समस्या का सर्वश्रेष्ठ समाधान माना गया। यज्ञ पर्यावरण अर्थात् प्रकृति और जीवों के क्रमिक नैरन्तर्य को बनाए रखने का साधन बना।[१]

१. अथर्ववेद १२।१।२२

यज्ञाग्नि से कृमियों का विनाश होता है ।[1] वायु प्रदूषक ये कृमि पृथ्वी से द्युलोक तक फैले हैं ।[2] वायु प्रदूषण का अन्य समाधान वृक्ष लगाना है । अनेक वृक्षों में गैसीय प्रदूषणों का शमन करने की क्षमता होती है । आरण्यक ग्रन्थ हमारी अरण्य जीवन पद्धति और आश्रमों में उपयोगी वृक्षों को लगाने की ओर संकेत करते हैं ।

जिस भूमि में वृक्ष और वनस्पतियां सदा खड़ी रहती हैं वह भूमि विश्व के समस्त जनों का भरण पोषण करने में समर्थ होती है ।[3] सरसों, तुलसी, पीपल, नीम कृमि नाशक हैं ।[4] अथर्ववेद में '**वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय**'[5] कहा गया है । औषध गुण युक्त वायु न केवल शरीर को अपितु हृदय को भी सुख देने वाली हो तथा हमारी आयु को भी दीर्घ करने वाली हो । वायु हमारा पिता-भ्राता और सखारूप है, वह हमें जीवन दाता बने ।[6] कुप्रयोग से वायुतत्त्व दुःख देता है तथा सुप्रयोग से आनन्द दाता है ।[7] वायु और सूर्य के यथावत् गुण जानकर मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक उन्नति करें ।[8]

जल प्रदूषण आज की भयावह समस्या है । तीन चौथाई पृथ्वी जल से घिरी है किन्तु १५% जनसंख्या ही शुद्ध जल पीने को पाती है । जल के दो स्रोत हैं **धरातलीय**–समुद्र, नदी, झील, तालाब, **भूमिगत**–कुंआ, टयूबवेल । आज नगरों, कस्बों, का मलमूत्र, कूड़ा करकट, कपड़े धोने, नहाने का साबुन मिश्रित गन्दा पानी नालियों द्वारा नदी या झील में पहुंचता है । कीट-नाशक, उद्योगों का अपशिष्ट पदार्थ, जैविक व कार्बनिक प्रदूषण, विलेय लवण, जीवाणु, वाइरस शैवाल प्रदूषकों से फ्लोराइड, अस्थि विकृति, विशूचिका मियादी ज्वर आदि बीमारियाँ होती हैं ।

जल को सब प्रकार की औषधि होना और कृमियों का विनाश करने वाला कहा गया है । वह शरीर को सब रोगों से मुक्त रखता है ।[9] यजुर्वेद में कहा गया है कि दिव्य-गुण युक्त जल हमारे कल्याण के लिये और पान करने के लिये है । वे

१. अथर्व०– अग्नीरक्षोहामीवचातनः १।२८।१,
प्रतिदह यातुधानान् प्रतिदेव किमीदिनः । अथर्व० १।२८।२
अथर्व० ६।८३।१, १।२२।१,
२. अथर्व० ४।२०।६
३. अथर्ववेद १२।१।२७
४. वही १२।३।१५
५. वही २।६।१
६. ऋग्वेद १०।८६।१
७. अथर्व०—२।१०।१
८. वही ४।२५।१
९. वही ३।७।५

हमें सुख देवे रोग को शान्त करे श्रम को दूर करे तथा सब ओर प्रवाहित हो।[1] जिस भूमि पर निरन्तर बहने वाले जल परिचर समान घूमते हैं। वह भूमि समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली है।[2]

वस्तुतः जल का निरन्तर प्रवाहित होना जल-प्रदूषण का एक समाधान है। निरन्तर गतिमान जल की अनिवार्यता पर जोर दिया गया है।[3] जल को अमृतमय तथा रोग निवारक माना गया है।[4] जलों की सफाई के लिये वृक्ष, वनस्पति, पेड़, पौधे, आवश्यक हैं। वर्षा, नदी, कूप का जल कुप्रबन्ध से दुःख का कारण बनता है। अतः प्रदूषण से बचाना आवश्यक है। कुम्भी को जल शोधन में उपयोगी माना गया है।[5]

मिट्टी का प्रदूषण भी आज की एक ज्वलन्त समस्या है। मिट्टी में जल, वायु, खनिज-पदार्थ, कार्बनिक पदार्थ, सूक्ष्म जीव आदि हैं। आज मिट्टी औद्योगिक व नगरीय अपशिष्टों से, कृषि कार्य से, रेडियो सक्रिय पदार्थ से, सूक्ष्म जीवों से, कीटनाशी दवाओं से, मानव व पशु द्वारा उत्सर्जित विषाणु-जीवाणु से प्रदूषित हो रही है। जिससे उत्पन्न अन्न फलादि खाने से नाना प्रकार की बीमारियां होती हैं। इस समस्या के समाधान वैदिक वाङ्मय मे ही हैं। जागरूक रहकर देवता व राष्ट्र नेता प्रमादरहित होकर सबका आश्रय पृथ्वी की रक्षा करें।[6] हिरण्यवक्षा भूमि के अधिक दोहन का निषेध किया गया है।[7] मनुष्य को प्रयास करना चाहिये कि सूर्य और पृथ्वी (मिट्टी) अर्थात् संसार के सब पदार्थ अनुकूल रहें।[8]

मनुष्य भूमि विद्या, जल विद्या में निपुण होकर आत्म पोषण और समाज पोषण का सामर्थ्य अपने पुरुषार्थ के अनुसार बढ़ावे।[9]

प्रदूषण की इस भयावह विभीषिका से हमारे वैदिक ऋषि भली भाँति परिचित थे इसी कारण उन्होंने मानवता को अनेक सद्मार्ग बताए हैं। परब्रह्म ने सोचा कि प्रदूषित पर्यावरण में जीवन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। अतः उसने आदि सृष्टि में ही अग्नि, आदित्य, वायु, अंगिरा आदि ऋषियों के माध्यम से जो वेद ज्ञान मानव कल्याण के लिए दिया उसमें यज्ञ क्रिया का उपदेश दिया। यज्ञ के पाँचों अंगों—समिधा, गोघृत पात्र, मंत्र, भावना का अत्यधिक महत्व है। समिधा रूप में गाय के गोबर में मेन्थाल, अमोनिया, फिनॉल, इन्डाल, नाइट्रोजन, फास्फोरिक अम्ल, पोटाश का अंश पाया जाता है। अथर्व० २।१९।४ में कहा गया

१. यजु० ३६।१२
२. अथर्व १२।१।६ ३. अथर्व० १२।१।३०
४. वही १।४।४ तथा 'आपो औषधि मतीः' (अथर्व १९।१७।६)
५. वही ११।३।१४
६. वही १२।११।७, १२।१।१२
७. वही १२।१।२६, ८. वही २।१२।५
९. अथर्व० ७।१०९।२

है—हे 'अग्नि जो तेरी शोधन शक्ति है उससे उस (दोष) को शुद्ध कर दे'''। अथर्व० १३।१।२८ में अग्नि घृत आदि हव्य पदार्थ से प्रज्वलित होकर रोगकारक दोष को नष्ट करता है। गोघृत से हवन करके वायु-प्रदूषण दूर किया जाता है। अथर्व० २१।३।६ में शुद्ध घृत से यज्ञ करने से आयु प्राप्ति की बात कही गई है। अथर्व० ८।६।१० में कस्तूरी, केसर, कपूरादि हव्य पदार्थ से किया गया यज्ञ कृमि नाशक होता है।

पात्र का भी अपना महत्त्व है। पिरामिड के आकार का हवन-पात्र विद्युत चुम्बकीय शक्तियों वाला होता है। अमेरिकीय अन्तरिक्ष अनुसन्धान संस्थान नासा ने पिरामिड ऊर्जा को ऊर्जा से अधिक क्रान्तिकारी माना है। मन्त्रों का प्रभाव सर्वथा विदित है। यज्ञीय भावना सर्वथा परमार्थ की भावना है। प्राकृतिक चिकित्सा में यज्ञों का प्रयोग किया गया है।

इसलिये वेदों में प्रदूषण समस्या के समाधानार्थ अनेक तत्त्व यत्र तत्र सर्वत्र व्याप्त हैं। जिस धरती पर हरे भरे पर्वत जंगल आदि हैं वह सबका कल्याण करने वाली है (अथर्व० १२।१।१)। जो औषधियों, वनस्पतियों को मारकर पृथ्वी को सताता है, उन्हें पृथिवी हिला देती है, पीड़ित करती है, नष्ट कर देती है (अथर्व० १२।२।५७)। हिरण्यवक्षा पृथ्वी को प्रणाम करके अधिक दोहन न करने का संकेत है (अथर्व० १२।१।२७)। पुरुषार्थी पुरुष प्रबन्ध रखे कि पृथ्वी (मृदा) अन्नादि की उत्पादन शक्ति और अन्य सब पदार्थ अनुकूल रहें (अथर्व० २।२८।४)।

ध्वनि प्रदूषण के लिये ही वेदों में मौन का आदेश दिया गया है—"उन्मादिता मौनयेन वार्ता आ तस्थिमा वयम्। (ऋग्वेद १०।१३६।३)। इसी प्रसंग में अथर्ववेद में भी कहा गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।

राजा को दुर्वचन मनीषियों को दण्ड देना चाहिये (अर्थ० ११।१०।७)

अतः पर्यावरण समस्या के समाधानार्थ मनुष्य को अपने में एक सही समझ विकसित करने की आवश्यकता है। यह सम्भव है कि वैज्ञानिक प्रयास कोई संकट न आने दें पर मानव को भी अपनी धरती उसकी जैविक, खनिज और वनस्पति सम्पदा तथा अन्य प्रदूषणों की ओर ध्यान पड़ेगा। आज अत्यधिक भौतिक विकास की लालसा में हमने पृथ्वी ही नहीं समुद्र के अन्दर तथा अन्तरिक्ष में भी अपने नवीन प्रयोगों से अतिक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया है। अतः ध्यान देने की बात है कि हम अहंकारवश ऐसा न करें कि वेद में कथित 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' का सम्बन्ध व्यर्थ प्रतीत होने लगे।

—: o :—

यमक अलंकार—सैद्धान्तिक विवेचन एवं व्यावहारिक प्रयोग

(कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ श्रीहर्ष तथा भट्टि के महाकाव्यों के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० (श्रीमती) पूनम जैन
c/o श्री महेन्द्र प्रसाद जैन
८/११४६, जैन बाग, सहारनपुर

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध नौ अध्यायों में विभक्त और कुल ४३७ पृष्ठों में व्याप्त है। प्रारम्भिक तीन अध्यायों में विषय का सैद्धान्तिक विवेचन है। यमक एक ऐसा शब्दालंकार है, जिसने अलङ्कारशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही अपनी प्रतिष्ठा बना रखी है। भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित चार अलंकारों में से यमक अन्यतम है। भरत से लेकर विश्वनाथ तक इस अलंकार का विवेचन प्रवाह अक्षुण्ण रहा है। काव्याचार्यों ने यमक का गहन अध्ययन किया तथा विस्तार से उसके भेद-उपभेदों का विवेचन किया।

सैद्धान्तिक पक्ष की भाँति यमक अलंकार का व्यावहारिक पक्ष भी अद्भुत रहा है। चतुर्थ अध्याय से नवम अध्याय तक इसके व्यावहारिक पक्ष पर दृष्टिपात किया गया है। इस अलंकार को न केवल विचित्र मार्ग के कवियों ने अपितु सुकुमार शैली के कवियों ने भी बडी उदारता से अपनाया है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के नवम सर्ग में ५४ श्लोकों में लगातार इस अलङ्कार का प्रयोग किया है। इसी प्रकार माघ रचित 'शिशुपालवध' के छठे सर्ग में भारवि कृत 'किरातार्जुनीयम्' के पन्द्रहवें सर्ग में भी इस अलकार का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। युधिष्ठिर-विजय, नलोदय आदि काव्य तो यमक-काव्य के रूप में विख्यात हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रबन्ध में यमक अलङ्कार के ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय स्वरूप का विश्लेषण तथा पूर्वोल्लिखित महाकाव्यों में यमक अलङ्कार के प्रयोग पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न किया गया है।

—:o:—

श्रीहर्षकृत नैषधीयचरितम् में बिम्ब योजना

श्रीमती रेणु शर्मा
भोपाल

"श्रीहर्षकृत नैषधीयचरितम् में बिम्ब-योजना" विषयक शोध-प्रबन्ध मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ में १९९२ में "संस्कृत" विषय में पी-एच० डी० की उपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया। जिस पर ३१-१२-१९९२ को विश्वविद्यालय में हुई मीटिंग में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान करने का निश्चय किया गया।

शोध प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है, जिसके कुल पृष्ठ ४७६ हैं।

प्रथम अध्याय पृष्ठ संख्या १ से ७९ तक है, जिसमें काव्य-बिम्ब का स्वरूप निर्धारण एवं विश्लेषण किया गया है। अध्याय पाँच भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में टी० ई० ह्यूम, सी० डी० लेविस आदि पाश्चात्यों तथा डा० नगेन्द्र, डा० रमारंजन मुखर्जी आदि आदि आधुनिक भारतीय आलोचकों द्वारा किये गये बिम्ब के विवेचन से काव्य-बिम्ब का स्वरूप निर्धारण किया गया है। साथ ही संस्कृत काव्याचार्यों द्वारा विवेचित विभिन्न काव्यशास्त्रीय तत्त्वों यथा सादृश्यमूलक अलंकारों, रस-विवेचन आदि में बिम्ब से सम्बन्धित विशेषताओं को खोजने का प्रयत्न किया गया। द्वितीय भाग में बिम्ब की कल्पना, मूर्तता, लक्षणा, व्यंजना, प्रतीक, सादृश्यमूलक अलंकार, कल्पकथा, रूपक-काव्य आदि तत्त्वों से समानता एवं विषमता को विवेचित किया गया है। तृतीय भाग में सी० डी० लेविस, राबिन स्केल्टन आदि पाश्चात्यों एवं डा० नगेन्द्र कुमार विमल आदि भारतीय आलोचकों द्वारा किये बिम्ब भेद विवेचन को प्रस्तुत करते हुये इन आचार्यों से बिम्ब भेद के महत्वपूर्ण तथ्यों को ग्रहण करके मान्य निर्धारित किया गया है। चतुर्थ भाग में एक सफल तथा आकर्षक बिम्ब के लिये सी० डी० लेविस द्वारा मान्य बिम्ब के कुछ विशिष्ट गुणों यथा औचित्य भावोद्बोधन की शक्ति आदि का विवेचन किया गया है। पंचम भाग में काव्य बिम्ब की सफलता के लिये होने वाले तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय पृष्ठ सं० ८० से १८६ तक है। इसमें श्रीहर्ष एवं उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। क्रमशः श्रीहर्ष का जीवन परिचय, काल, मूलनिवास स्थान, व्यक्तित्व एवं अन्य रचनाओं के संक्षिप्त परिचय के उपरान्त नैषधीयचरित का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। नैषध एवं राजशेखर सूरि के प्रबन्धकोश के आधार पर श्रीहर्ष को कान्यकुब्जेश्वर राजा

जयन्तचन्द्र के आश्रय में सिद्ध किया गया है। राजा जयन्तचन्द्र (११६६—११९४) के राज्याश्रय में होने से तथा अन्य अनेक तर्कों के आधार पर श्रीहर्ष का काल बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध ही निश्चित किया गया है। श्रीहर्ष की मूल निवास स्थली विद्वानों के काश्मीर, दक्षिण भारत, बंगाल, गुजरात, काशी एवं कन्नौज सम्बन्धी मत को प्रस्तुत करते हुये काश्मीर, दक्षिण भारत एवं गुजरात सम्बन्धी मतों को निराधार प्रतिपादित कर उनकी मूल निवास-स्थली बंगाल (गौडदेश), कन्नौज या काशी होने की सम्भावना की गई है।

नैषध महाकाव्य में प्रतिपादित प्रत्यक्ष एवं परोक्ष तथ्यों से श्रीहर्ष के व्यक्तित्व का अनुमान लगाने का प्रयत्न भी किया गया है। तदुपरान्त श्रीहर्ष की नैषध के अतिरिक्त उपलब्ध रचना अद्वैत वेदान्त की स्थापना से युक्त ग्रन्थ खण्डनखण्ड गद्य एवं नैषध में कथित स्थैर्यविचार प्रकरण, श्रीविजय-प्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, अपूर्व वर्णन, छन्द प्रशस्ति, शिवशक्ति सिद्धि, नवसाहसांक-चरितचम्पू, तथा खण्डनखण्ड गद्य में लिखित ईश्वराभिसन्धि आदि अन्य अनुपलब्ध रचनाओं के विषय में अन्य विद्वानों के मत प्रस्तुत किये गये हैं। इसके पश्चात् नैषधीयचरित को महाकाव्य की मान्यताओं की कसौटी (कथावस्तु, पात्र चरित्र चित्रण, रस भाषा शैली आदि) पर परखकर उसका समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है।

तृतीय अध्याय पृष्ठ संख्या १६० से २६४ तक— इसमें नैषधीयचरित में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के बिम्बों का विशद विवेचन किया गया है। जिसमें सर्वप्रथम नैषध में प्राप्य नल दमयन्ती के रूप-सौन्दर्य आदि मानवीय, क्रीडोपवन, चन्द्रमा आदि प्राकृतिक विषयों से सम्बन्धित ३३४ चाक्षुष बिम्बों का, जिसमें ११ स्थिर लक्षित, २२६ स्थिर उपलक्षित, १६ गतिशील लक्षित एवं ७८ गतिशील उपलक्षित हैं, विवेचन किया गया है जिनको कि वर्ण्यविषय में स्थिरता या गतिशीलता के आधार पर प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के आधार पर क्रमशः लक्षित एवं उपलक्षित कोटि में विभाजित तथा किया गया है। अतः चाक्षुष बिम्बों को चार भागों में विभाजित किया गया— (क) स्थिर लक्षित बिम्ब (ख) स्थिर उपलक्षित बिम्ब (ग) गतिशील लक्षित (घ) गतिशील उपलक्षित बिम्ब। चाक्षुष बिम्बों के पश्चात् नैषध के ३४ श्रव्य, ५७ स्पृश्य, १२ घ्रातव्य, ३७ आस्वाद्य बिम्बों तथा एकाधिकेन्द्रिय बिम्बों में। चतुरिन्द्रिय, ११ त्रीन्द्रिय सम्बन्धी, द्वीन्द्रिय में २० चाक्षुष एवं श्रव्य, ३५ चाक्षुष एवं स्पृश्य, ५ चाक्षुष एव घ्रातव्य, १० चाक्षुष एवं आस्वाद्य, १ श्रव्य एव आस्वाद्य, ३२ भावात्मक तथा ६६ प्रज्ञात्मक बिम्बों का विशद विवेचन किया गया है। श्रव्य स्पृश्य, घ्रातव्य, आस्वाद्य बिम्बों को प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के आधार पर क्रमशः

लक्षित एवं उपलक्षित श्रेणी में लिया गया है। इन बिम्बों के लिये श्रीहर्ष ने अनेक विषयों को उपादान बनाया है यथा श्रव्य बिम्बों में पक्षियों, मानवीय, प्राकृतिक तथा वाद्य ध्वनियों एवं स्पृश्य बिम्बों में कोमलता, शीतलता, उष्णता एवं शारीरिक स्पर्श आदि की अनुभूतियों, घ्रातव्य बिम्बों में पुष्पों, कस्तूरी, धूप, बिल्व, दमयन्ती निःश्वास वायु की सुगन्ध आदि, आस्वाद्य बिम्बों में भात, रायते, दूध, खीर, मधु आदि के स्वाद का वर्णन किया गया है। उक्त बाह्यकरणाश्रित बिम्बों के पश्चात् काम, क्रोध आदि स्थायी भावों एवं यश, अपयश आदि बौद्धिक धारणाओं के मूर्तिकरण सम्बन्धी क्रमशः भावात्मक तथा प्रज्ञात्मक बिम्बों का वर्णन किया गया है। समीक्षा में श्रीहर्ष की बिम्ब योजना के गुणों एवं दोषों की ओर भी संकेत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय पृष्ठ संख्या २९५ से ३४९ तक है। इस अध्याय में नैषधीय-चरित के प्रतिपाद्य के परिप्रेक्ष्य में बिम्बों को प्रस्तुत किया गया है तथा प्रतिपादित किया गया है कि श्रीहर्ष की भावानुकूल बिम्ब-योजना अधिकांशरूपेण प्रतिपाद्य के अनुरूप ही रही है। अध्याय के अन्त में प्रतिपाद्य के अनुकूल न पाये गये कतिपय बिम्बों की ओर भी संकेत किया गया है। पंचम अध्याय पृष्ठ संख्या ३५० से ४१३ तक है। इसमें नैषधीयचरितम् में प्रयुक्त बिम्बों की परम्परा को प्रस्तुत किया गया है, जिसके लिये श्रीहर्ष द्वारा आदिकवि वाल्मीकि द्वारा रामायण की रचना करके प्रारम्भ हुये महाकाव्यों की शृंखला के अश्वघोष विरचित सौन्दरनन्दम्, बुद्धचरितम्, महाकवि कालिदास प्रणीत रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, कुमारदासकृत जानकीहरणम्, भारवि रचित किरातार्जुनीयम् एवं माघ विरचित शिशुपालवधम् आदि महा काव्यों में प्रयुक्त चाक्षुष, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य, भावात्मक एवं प्रज्ञात्मक बिम्बों की परम्परा का वहन करना दर्शाया गया है।

षष्ठ अध्याय पृष्ठ संख्या ४१४ से ४६२ तक है। इसमें नैषधीयचरितम् की बिम्ब-योजना का उसके पश्चाद्वर्ती महाकाव्यों पर प्रभाव दर्शाया गया है। सभी रचनाओं को विषय-विस्तार के भय से ग्रहण करते हुये कतिपय पश्चाद्वर्ती महाकाव्यों कृष्णानन्द रचित सहृदयानन्दम्, अभयदेवकृत जयन्तविजयम्, अगस्त्य पंडित विरचित नलकीर्तिकौमुदी, वामनभट्टबाण कृत नलाभ्युदय, कविकर्णपूर प्रणीत चैतन्यचरितामृतम्, चक्रकवि रचित जानकीपरिणय में प्रयुक्त बिम्बों पर नैषध के बिम्बों का प्रभाव विवेचित किया गया है। साथ ही हिन्दी साहित्य के विद्यापति की पदावली, केशवदासकृत श्रीरामचन्द्रिका एवं बिहारी की बिहारी सतसई के बिम्बों पर भी नैषध के बिम्बों का प्रभाव दर्शाया गया। पश्चाद्वर्ती महाकाव्यों में प्रभावित अधिकांश बिम्ब चाक्षुष हैं तथा प्रभावित श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य आदि एकाध ही बिम्ब उपलब्ध है।

अंततः उपसंहार पृष्ठ संख्या ४६३ से ४७६ तक है। उपसंहार में बिम्ब को निस्सन्दिग्ध रूप से रस के उपादान विशेषकर विभाव एवं अनुभाव रूप शब्दचित्र का नामांतर ही सिद्ध किया गया। बिम्ब को रसास्वादन का माध्यम होना आलम्बन, उद्दीपन विभाव तथा अनुभाव के सफल तथा सार्थक चित्रण पर आधारित माना गया है। तदुपरान्त सभी अध्यायों से सम्बन्धित निष्कर्ष को प्रस्तुत किया गया है। अन्ततः श्रीहर्ष की बिम्ब-योजना के गुणों एव दोषों को प्रस्तुत कर श्रीहर्ष की बिम्ब योजना को सफल एवं सार्थक ही स्वीकार किया गया है।

—:o:—
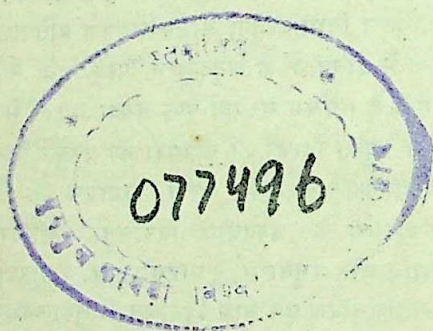
The Journal, an organ of Ch. Charan Singh University Meerut Sanskrit Teachers Association is published yearly. Its object is to promote research in all the branches of learning connected with Sanskrit, e. g. Literature, Poeties, Indian Philosophy, Veda & Grammar etc. Unpublished research-articles are invited from scholars and research-students.

Manuscript for publication should preferably be typed on double spacing on one side of the paper. Kindly use Devanagari Script for Sanskrit quotations and words. The articles should be short, generelly covering not more than 5-6 printed pages. Each author will get ten off-prints of the article free of cost.

For **Book-Review**, two copies of the book should be sent to the editor. Advertisements of books on Indology can be sent to the editor. The rates are (1) Inner page—Rs. 100 per page (2) Third or Fourth page of the cover—Rs. 200 per page.

—Editor

Rates of Subscription

	India	Abroad
(1) Patrons	Rs. 1000	Dollars 2
(2) Life Members		
(I) Institution	Rs. 1000	Dollars 2(
(II) Individuals	Rs. 500	Dollars 1(
(3) Annual Members—		
(I) Institution	Rs. 60	Airmail Dollars
		Surface Mail Dollars 1
(II) Individuals	Rs. 30	Airmail Dollars
		Surface Mail Dollars

Cheques/Drafts (To be collected at Muzaffar Nagar) shou be in the name of—

"चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ-संस्कृत अध्यापक परिषद् ।"

All Correspondence should be addressed to—

The Editor,

Ch. Charan singh University Meerut-Sanskrit Research Journal,

Dept. of Sanskrit

S. D. College, Muzaffar Nagar (U. P.) 251001

—: o :—